श्रीऋषभदेवाय नमः ।

श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचितः

रत्नकरण्डश्रावकाचारः

श्रीप्रभाचन्द्रीयसंस्कृतटीकया

सिद्धान्तशास्त्रि-पण्डितप्रवर-गौरीलालरचितैः

पञ्जिकाटिप्पणीहिंदीभाषानुवादैः

हृदयंगमेनाऽनुक्रमणिकया च समलंकृतः

स च

श्रेष्ठिवर्यगम्भीरमलपाण्ड्या कुचामननिवासिप्रदत्तसहायतया

भारतीयजैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्थाया मंत्रिणा

व्याकरणशास्त्रि-पंडित-श्रीलालजैन-काव्यतीर्थेण

जैनसिद्धान्तप्रकाशक पवित्रमुद्रणालये मुद्राप्य

१४८ बाराणसीघोषष्ट्रीट कलिकातातः

प्रकाशितः ।

श्रीवीराब्दः २४६४ — विक्रमाब्दः १९९४

श्रीसमन्तभद्रभारतीस्तवनम्

सस्मरीमि तोष्टवीमि नंनमीमि भारतीम् ।
तंतनीमि यंयमीमि बंभणीमि तेऽमिताम् ॥
देवराजनागराजमर्त्यराजपूजिताम् ।
श्रीसमन्तभद्रवादभासुरात्मगोचराम् ॥ १ ॥

मातृमानमेयसिद्धिवस्तुगोचराँस्तुवे ।
सप्तभंगसप्तनीतिगम्यतत्त्वगोचराम् ।
मोक्षमार्गतद्विपक्षभूरिधर्मगोचरा-
मात्मतत्त्वगोचरां समन्तभद्रभारतीम् ॥ २ ॥

सूरिसूक्तिवन्दितामुपेयतत्त्वभाषिणीं ।
चारुकीर्तिभासुरामुपायतत्त्वसाधनीम् ॥
पूर्वपक्षखण्डनप्रचण्डवाग्विलासिनीम् ।
संस्तुवे जगद्धितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ३ ॥

पात्रकेसरिप्रभावसिद्धकारिणीं स्तुवे ।
भाष्यकारपोषितामलंकृतां मुनीश्वरैः ॥
गृद्धपिच्छभाषितप्रकृष्ट मंगलार्थिकाम् ।
सिद्धसौख्यसाधिनीम् समन्तभद्रभारतीम् ॥ ४ ॥

---

१ स्मृ-इत्यस्य यङ्लुगन्तरूपम्, पुनः पुनः भृशं स्मरामि इत्यर्थः ।
२ यम-परिवेषयामि (पुनः पुनः भृशं वा परिवेष्टेऽहमित्यर्थः ।

इन्द्रभूतिभाषितप्रमेयजालगोचरां ।
वर्द्धमानदेवबोधबुद्धचिद्विलासिनीम् ॥
यौगसौगतादिगर्वपर्वताशनिं स्तुवे ।
क्षीरवार्धिसन्निभां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ५ ॥

माननीतिवाक्यसिद्धवस्तुधर्मगोचराम् ।
मानितप्रभावसिद्धिसिद्धिसिद्धिसाधिनीम् ॥
घोरभूरिदुःखवार्धितारणक्षमामिमां ।
चारुचेतसा स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ६ ॥

सान्तनाद्यनाद्यनन्तमध्ययुक्तमध्यमां ।
शून्यभावसर्ववेदितत्त्वसिद्धिसाधिनीम् ॥
हेत्वहेतुवादसिद्धवाक्यजालभासुरां ।
मोक्षसिद्धये स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ७ ॥

व्यापकद्वयाप्तमार्गतत्त्वयुग्मगोचराम् ।
पापहारिवाग्विलासिभूषणांशुकां स्तुवे ॥
श्रीकरीं च धीकरीं च सर्वसौख्यदायिनीम् ।
नागराजपूजितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ८ ॥
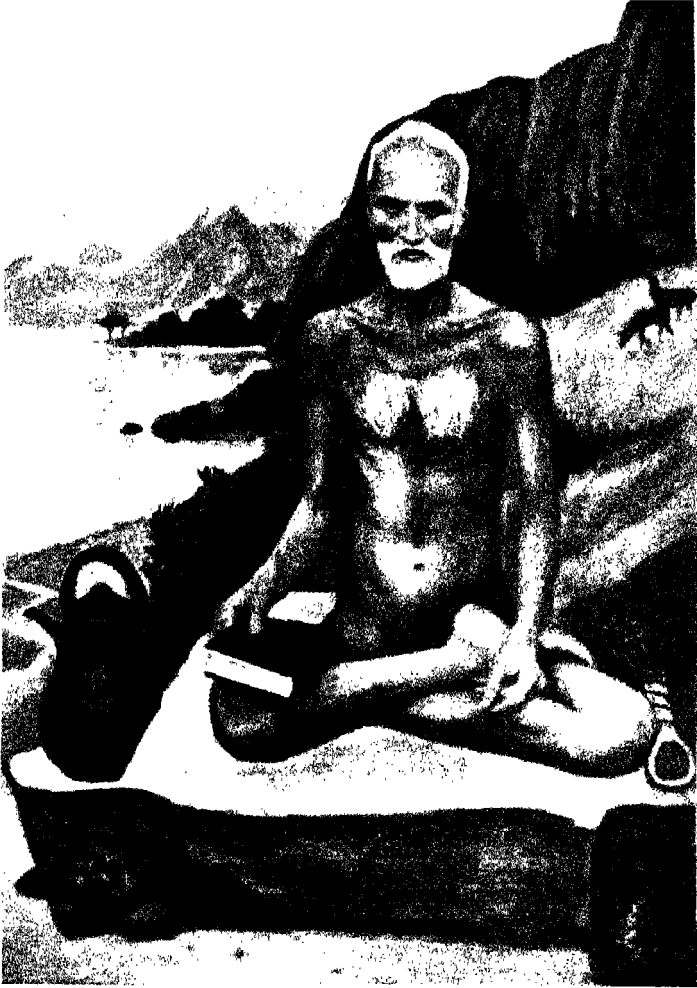
तपोनिधि श्री १०८ आचार्य चंद्रसागरजी महाराज।

श्री १०८ श्रीचन्द्रसागरजी महाराजका जीवनचरित्र।

आप श्री १०८ श्री आचार्यवर्य श्रीशांतिसागर स्वामीके प्रधान शिष्य हैं। मुनिवृन्दमें आपकी सानीका दूसरा विद्वान् नहीं। गृहस्थोंमें भी बड़े बड़े पंडित कहलानेवाले आपकी बुद्धि को प्रणाम करते थे। आप चारों अनुयोगोंके प्रकाण्ड पण्डित और उग्र तपस्वी हैं। संस्कृत प्राकृत मराठी गुजराती भाषायें भी खूब जानते हैं। आपकी उपदेश शैली बड़ी उत्तम प्रभावक है। आप मोक्षकी प्रधान साधनभूत सज्जातीयता, वर्णव्यवस्थाके रक्षक पोषक और निर्वाहक हैं इसलिये प्रायः मोक्षमार्गविरोधी लोग आपसे अप्रसन्न हो जाते हैं परन्तु आप जिनागमकी आज्ञाके आगे किसीके रोष तोषका ख्याल नहीं करते।

आपने शुभ मिती पौष बदी १३ वि० सं० १९४० को शुभ नक्षत्रमें खण्डेलवाल जाति और श्रेष्ठ पहाड्या गोत्रमें नांदगांव ग्राममें जन्म धारण किया है। आपके पिताका नाम श्रीनथमलजी और माताका नाम सीता है। आपकी गृहस्थावस्थाका नाम खुशालचन्द्रजी पहाड़े था। आपने वि० सं० १९७८ में ऐलक पन्नालालजीके समीप बारह व्रत धारण किये थे। इसके बाद कोन्नूर नगरमें पूज्य श्री १०८ श्रीशांतिसागरजी महाराजके

पवित्र उपदेशसे प्रतिमाके व्रत धारण किये। बादमें वि० सं० १९८० फाल्गुण शुक्ला ७ के दिन क्षुल्लकके व्रत धारण किये और आपका नाम बदलकर श्रीचन्द्रसागरजी हो गया। वि० सं० १९८६ अगहन सुदी १५ के दिन आपने पवित्र सोनागिरि सिद्ध-क्षेत्रपर महाव्रत धारण किये। आपकी तपश्चर्या बहुत ही उच्च-कोटिकी है। इस वर्ष (वि०सं० १९९४ में) आपने जयपुरमें ससंघ चातुर्मास किया है। आप जैनसमाजके गौरव बढ़ानेवाले आदर्श हैं।

निरुक्ति और अनुवादकारक

जातिभूषण सिद्धांत शास्त्री

पंडितप्रवर गौरीलालजी पद्माकर।

स्वस्ति श्रीप्रतिश्रुतादिकुलकरेभ्यः ।

निरुक्तिकार अनुवादकका परिचय

मथुरा प्रान्तमें बेरनी नामक निगम श्रीपार्श्वनाथ जिन-चैत्यालयसे शोभित है, जहांपर करीब ३०० वर्ष पहले एक श्रीमक्सी नामक सद्गृहस्थ निवास करते थे। जो कि पद्मावती-पुरवाल जात्युद्भव पद्माकर गोत्रको अलंकृत करनेवाले थे। उनकी संतति प्रतिसंततिमें श्रीशिवलालजीनामक प्रतिष्ठित सदा-चारी सज्जन हुए, जिनके रामलालजी और उदयराजजी नामक दो पुत्ररत्न हुए जो कि शास्त्रस्वाध्याय, जिनपूजन और चर्चा-वार्ता करनेमें उत्सुक रहते थे। जिनमेंसे ज्येष्ठ भ्राताके तनुज मनो-रामजी और गौरीलालजी हुए, तथा दूसरे भाईके प्यारेलालजी, सोनपालजी, बंशीधरजी, खूबचन्दजी और नेमीचन्दजी पांच पुत्र-रत्न हुए। जिनको पिता और पितामहने हिन्दी गणित और महाजनी पढ़ाकर संस्कृत प्राकृत भाषाका भी परिज्ञान कराया। उनमेंसे पं० गौरीलालजीने सदाचारपूर्वक विद्याध्ययन कर जो अपने कर्त्तव्यका पालन किया है वह अन्य भ्रातृवर्गोंको भी अनुकरणीय है जिनका परिचय इस प्रकार है।

अनुवादकका परिचय

पंडित गौरीलालजीने अपने जन्मभूमिस्थ राजकीय स्कूलोंमें पांचवीं कक्षा तक हिन्दी भाषाका अध्ययन किया। अनन्तर

अलीगढ़ दि० जैन पाठशालामें व्याकरण काव्य साहित्यका अध्ययन कर बनारसमें उच्च कोटिके "मनोरमा शेखर फक्किका प्रकाश", न्याय, वैशेषिक, सांख्य, साहित्यदर्पण आदि शास्त्रोंका अध्ययन कर देहलीमें छात्रोंको अध्यापन कराते हुए कपड़ेका व्यवसाय कर आजीविका करते रहे।

कुछ दिन बाद पिताका वियोग होनेपर जवाहरातका भी काम किया फिर स्वदेशी आन्दोलनके समय स्वदेशी कपड़ेका पुनः व्यवसाय शुरू कर दिया।

अनन्तर जलेसरमें स्वदेशी कपड़ोंको तैयार करवा कर आगरा, मालवा आदि प्रान्तोंमें खपत कराते रहे जिससे देशमें स्वदेशी व्यापारमें उन्नतिलाभ कर अर्थलाभ बढ़ाया।

विद्या-प्रदान

आपकी प्रीति जैन आर्ष-काव्य न्याय व्याकरण शास्त्रोंमें अधिक बढ़ती रही जिससे अनेक सज्जनोंको प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़ाया, जनताको सुनाया और विविध पाठशालाओंमें पढ़वानेका प्रयत्न कराया। तथा भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परीक्षालयका मन्त्रित्वपद स्वीकार कर १२-१४ वर्षतक परीक्षण निरीक्षण कर विद्यार्थियोंको उत्तीर्णपत्र, पारितोषिक प्रदान कर जैन-व्याकरणादि शास्त्रोंका प्रोत्साहन बढाया तथा भा० व० दि० जैन महाविद्यालयका मन्त्रित्व पद स्वीकार कर उसका संचालन किया। दि० जैन गुरुकुल तथा भारतवर्षीय दि० जैन पद्मावती-

परिषद्के मंत्री और उसकी पाठशालाके प्रबन्धकर्त्ता होकर जलेसरमें समीचीन विद्याका प्रसार किया, तथा उसके कई बार सभापति होकर न्याय, नीतिके अनुसार शिष्टानुग्रह और अशिष्टतासे सुरक्षित कर जाति और कुल-रक्षा की, रक्षाके साधनोंको दृढ किया और कराया तथा संवत् १९७२ में जातिकी मर्दुमशुमारी कर उसके स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, विवाहित, अविवाहित, पढे, बेपढे, और विधवा सधवाओंकी संख्याओंको तथा जैनमन्दिरोंकी गणनाको बतानेवाली पुस्तकको प्रकाशित किया। जिससे जातीय जनतामें विशेष लाभ हुआ और जातीय जनताने आपको कृतज्ञता-सूचक "जाति-भूषण" पदवीसे अलंकृत किया। तथा पद्मावतीपुरवाल जातिके विवाहादि संस्कारोंमें जो प्राचीन कालसे जैन-विवाह-पद्धति अनुसार पांडेलोग विवाहसंस्कार कराते हैं उनके पठन पाठनमें जो अशुद्ध पाठ और अशुद्ध मन्त्रोच्चारण थे उनको बहुत अंशोंमें ठीक कराया, तथा बहुतसे आदमी अपने गोत्रोंके नामसे अज्ञात थे उनको ज्ञात करानेका प्रयत्न किया और प्रचारमें लानेका, बोलनेका और समझने समझानेका, बोलने बुलवानेका प्रचार बढाया।

आपने मूलबद्रीमें श्रीधवल, जयधवल सिद्धान्तग्रन्थोंका स्वाध्याय कर अपने श्रुतज्ञानको बढाया तथा अर्थोंको सुनाया जिससे श्रीचारुकीर्ति पण्डिताचार्य आदिने आपको सिद्धान्तशास्त्री पदवीसे विभूषित किया।

आप वर्तमानमें श्रीऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम चौरासी मथुराके अधिष्ठातृत्वपदका कार्य सम्पादन कर रहे हैं।

आचार

यद्यपि आपके सदाचार, जात्याचार और धर्माचार साधारणतया उत्तम प्रशंसनीय हैं तो भी पारलौकिक धर्मकी सिद्धिके लिये आचार्य श्रीशांतिसागरस्वामीके निकट संवत २४५८ में सप्तम प्रतिमाके व्रत अङ्गीकार किये जिससे कि जनतामें ज्ञान-चारित्रकी एकताको एकाधार कर प्रदर्शित किया।

आपने जैनसिद्धान्त-सम्बन्धी गूढ रहस्योंको, तथा जाति-व्यवस्था सम्बन्धी नीति (Jain law) को स्पष्ट इंग्लिश राज्यशासनमें जजमेन्टका काम देवे इसके लिये पं० नन्नूमलजी मंत्री जैन ला विभागको भारतवर्षीयजैन ला बनानेमें सहायता दीनी और उसके संरभमें प्रयत्न किया। तथा जाति पांति तोड़नेवाले तथा करेवा, धरेजा, पाट आदिको विवाह बताने वाले असदाचारियोंके फन्देसे बचानेके लिये समाचारपत्रों (स्याद्वादकेशरी, जैनगजट, खण्डेलवाल जैन हितेच्छु आदिमें तथा अपने सम्पादकत्वसे चलनेवाले जैनसिद्धान्तमें) लेख दे कर जैन-जनताको बचाया।

आपने श्री १०८ वंदनीय तपोनिधि चन्द्रसागर प्रभृति विद्वानोंके हृदयोंमें जैनेन्द्र व्याकरणको स्थापन (अध्यापन) जागृत कर अपनी कठिनतासे प्राप्त की हुई विद्याको बहुत कालके लिये जाज्वल्यमान किया। जिसके प्रभावसे त्यागी व्रतियोंमें जैन आर्य संस्कृत प्राकृत मागधी भाषामय आचार शास्त्रोंका तथा समन्तभद्रीय श्रावकाचारोंका प्रकाश फैलाया।

आजकल "श्रीवीरसंवत्" लिखनेकी जो पद्धति है, वह

आपके प्रयत्नसे ही चालू हुई। श्रीऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तनाग-पुरकी नींव डालनेमें आपका प्रयत्न प्रधान था।

करीब आजसे २००-२५० वर्ष पूर्व आर्षविद्याके पढने पढाने की, यज्ञोपवीतादि संस्कारोंका तथा मुनि आर्यिका श्रावक श्राविकाओंके आचार-विचारकी प्रवृत्ति अज्ञान अन्धकारसे ढंक गई थी और जैन धार्मिक जातियां डगमगा रही थीं उनको हस्तावलम्बन देनेके लिये (तथा जात्याचार, कुलाचार, धर्माचार दर्शानेके लिये) श्रीशान्तिसागर जैसे आचार्यों का हिन्दुस्थानमें विहार करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। तथा उनके संघस्थ मुनिराजोंका इधर उधर व्याप्तरूप व्याख्यानोंके होनेका यज्ञोपवीतादि संस्कार, प्रतिमारूप चारित्रोंका ग्रहण और महाव्रतोंके धारण करनेका विधान होनेसे जैनधर्ममें प्रभावना बढी तथा जनताको श्रावकसम्बन्धी आचार-विचारोंको जैन आर्ष-आम्नायानुसार प्रगट जाननेकी उत्कण्ठा हुई इसलिये इस रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी श्री १०८ प्रभाचन्द्राचार्य रचित संस्कृत टीका सहित तथा वर्तमान देशभाषामें अर्थ और उन कारिकाओं-के गूढ गमकमयी वाक्योंको प्रगट निरुक्ति द्वारा पदार्थोंको बतानेवाले अन्वयार्थके साथ निरुक्त लिखा। यह समस्त भव्य संततिको लाभकारी होवे इसलिये इसको पुस्तकाकार तयार कर प्रकाशित किया गया है। जिससे जैन जनता (विद्यार्थी और व्रतार्थियों) के अज्ञानांधकार दूर होकर शुद्ध अनादिनिधन वर्द्धमान उपासकाध्ययन समन्तभद्रीय उपासकाध्ययन श्रावकाचारसे विभूषित होकर इहलोक और परलोकमें अभ्युदयको बढाती हुई निःश्रेयस मार्गमें संलग्न रहैं। विनीतः—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ

आभार प्रदर्शन ।

इस प्राचीन आर्ष समन्तभद्रीय श्रावकाचारका प्रसार जनताके हृदयोंमें पहुंच सके इसके लिये श्रीमान् मुनिभक्तपरायण धर्मवत्सल श्रेष्ठिवर्य सेठ गम्भीरमलजी पांड्या कुचामननिवासीने अपने नगर और घरको चरणों द्वारा पवित्र करनेवाले श्री १०८ तपोनिधि चन्द्रसागरजी मुनिराजके आहार और वर्षायोग होनेके उपलक्षमें इस ज्ञानोपकरणको प्रसिद्ध करनेमें अपने न्यायोपार्जित द्रव्यको लगा कर अपने गृहस्थधर्मको सफल बनानेका सौभाग्य प्राप्त किया है ।

—अनुवादक

पाठकोंसे अनुरोध।

१- यह यन्त्रित श्रावकाचार ग्रन्थ आपके समक्ष विराजमान है। इसमें दृष्टिदोष, संशोधनकी भूल, प्रेसकी असावधानी एवं अज्ञानता आदि कारणोंसे अशुद्धि रह जाना सम्भव है अतएव विज्ञ पाठक शुद्ध कर पढ़ें पढ़ावें और सुनावें।

२—प्रभाचन्द्रीय संस्कृत टोका, निरुक्ति और टिप्पणीके पदों व वर्णोंकी शुद्धता--अशुद्धता परस्पर (एककी दूसरेसे) जान कर शुद्धताको ग्रहण कर वाक्यार्थ करें।

३—जो पद, वाक्य तथा इनका अर्थ अपने जाने हुए अर्थसे विलक्षण जचे उसको संस्कृत श्रीप्रभाचन्द्रीय टोकासे ज्ञात करना। फिर भी सन्तोष नहीं होवे तो अन्य आर्ष संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थोंसे मिलाकर अविरोधी बननेका प्रयत्न करें।

आशा है श्रतार्थी, शिक्षक और विद्यार्थीगण दोषग्राही न बनेंगे किन्तु हंसके समान दोषज्ञ विवेकी गुणग्राहक बनेंगे।

यदि धार्मिक बन्धुवर्गोंने इस ग्रन्थसे लाभ उठाया तो अपना प्रयास सफल समझेंगे।

—प्रकाशक

श्लोकोंकी अकारादि क्रमसे सूची

स्वस्ति श्रीसमन्तभद्रस्वामिभ्यः ।

रत्नकरण्डश्रावकाचारः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्य निर्मित टीकयाऽलंकृतः ।
अन्वयार्थेन निरुक्तेन पञ्जिकया च विभूषितः ॥

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं,
जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम् ।
निबन्धनं रत्नकरण्डके परं,
करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह;—

नमः श्रीवर्द्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

'नमो' नमस्कारोऽस्तु । कस्मै ? 'श्रीवर्धमानाय' अन्तिमतीर्थङ्कराय तीर्थंकरसमुदायाय वा । कथं ? अव--समन्तादृद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्धमानः । 'अवाप्योरल्लोपः' इत्यवशब्दाकारलोपः । श्रिया बहिरङ्गयाऽन्तरङ्गया च समवशरणानन्तचतुष्टयलक्षणयोपलक्षितो वर्धमानः श्रीवर्धमान इति व्युत्पत्तेः, तस्मै कथंभूताय ? 'निर्धूतकलिलात्मने' निर्धूतं स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपं पापमात्मन आत्मनां वा भव्यजीवानां येनाऽसौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै । यस्य विद्या केवलज्ञानलक्षणा किं करोति ? 'दर्पणायते' दर्पण इवात्मानमाचरति । केषां ? 'त्रिलोकानां' त्रिभुवनानाम् । कथंभूतानां ? 'सालोकानां' अलोकाकाशसहितानाम् । अयमर्थः--यथा दर्पणो निजेन्द्रियागोचरस्य मुखादेः प्रकाशकस्तथा सालोकत्रिलोकानां तथाविधानां तद्विद्या प्रकाशिकेति । अत्र च पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः, उत्तरार्धेन च सर्वज्ञतोक्ता ।। १ ।।

अन्वयः—श्रीवर्द्धमानाय नमः भवतु । कथम्भूताय श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने । यद्विद्या सालोकानां त्रिलोकानां दर्पणायते ।

निरुक्तिः—वर्द्धते इति वर्द्धमानः[१] श्रीसहितो वर्द्धमानः सः श्री वर्द्धमानः । तस्मै श्रीवर्द्धमानाय[२] । निर्धूतानि कलिलानि घातिकर्माणि

१–वृधुङ् वृद्धौ, इति धोः 'सल्लटः' २।३।१३ इति शानः स्यः । वर्धमानः सन्मतितीर्थंकरः, तथा च । सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरोऽन्त्यकाश्यपः । नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह सांप्रतम् । इति धनञ्जयनाममाला । २--उपपदविभक्त्याः षष्ठ्याः स्थाने "शक्तार्थनमःस्वस्ति स्वाहा वषट् स्वधाहितैः" १।४।२६ इति जैनेन्द्रसूत्रेण अप् (चतुर्थी विभक्ती)

आत्मन: असौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै निर्धूतकलिलात्मने । अथवा निर्धूतानि कलिलानि पापकर्माणि यस्य स निर्धूतकलिल: । सचासौ आत्मा स्वरूपो यस्यासौ तथा तस्मै । अलोकेन सहिता; सालोका: तेषां सालोकानाम् । त्रयो लोका: त्रिलोका: तेषां त्रिलोकानाम । यस्य विद्या यद्विद्या । दर्पण इव आचरति इति दर्पणायते ॥१॥

अर्थ—श्रीवर्द्धमान स्वामीको नमस्कार होवो । किस प्रकारके वर्द्धमान तीर्थंकरको ? जिन्होंने चारघातिया कर्म नष्ट कर डाले हैं और जिनका ज्ञान अलोकाकाश तथा तीनों लोकोंके सर्व पदार्थोंको दर्पणके प्रतिविम्बके समान प्रगट करानेवाला है ॥१॥

विशेष–दर्पण तीन प्रकारके होते हैं । सूक्ष्मदर्शी१, प्रतिहतदर्शी२, दूरदर्शी३ । जिससे सूक्ष्म (वारीक) स्कन्ध (जीर्णज्वर वालेके रुधिरमें बढे हुवे सूक्ष्म अवयव) तथा शरीरी जीवोंके अंग प्रत्यंगोंको स्थूलरूपसे देख सके उसे सूक्ष्मदर्शी (Microscope=माईक्रोस्कोप खुर्दवीन) कहते हैं । दूसरा जिससे शरीरके मध्यवर्ती चर्म रुधिर मांस आदिसे ढके हुवे (छिपे हुवे) अस्थि (हाड) नशा जाल आदिका प्रतिविम्ब लेकर उससे उनकी विकृति स्वस्थता (स्थिरता) आदिको देखसके वह प्रतिहतदर्शी (X'Ray=

१–वानोत्वः ।४।३।२४६ इति सहस्य स आदेशः ।

२–"क्यङ् च" ३।१।१२ इति क्यङ् स्वः "तदन्ताः धवः" ३।१।४४ इति घु संज्ञा "ङेदितो दः" १।२।६ इति दः ।

एक्सरे) दर्पण है । तीसरा जिससे दूरवर्ती देशोंमें स्थित पर्वत वृक्ष जहाज मनुष्य पशु पक्षी आदिको देखसके—प्रतिबिम्ब लेसके वह दूरदर्शी दर्पण (Telescope=टेलस्कोप) है

लोकमें जो इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थ हैं वह भी तीन प्रकारके हैं । सूक्ष्म पदार्थ जैसे कार्माणवर्गणा, वैक्रियिकवर्गणा आदि स्कन्ध। प्रतिहत पदार्थ जैसे पर्वत भूमि भित्ती आदिके पश्चात भागमें स्थित अथवा वर्ष युग कल्प आदि कालसे पहिलेके पदार्थ जैसे रामचन्द्र सीता भरत वर्धमान आदि महापुरुष। दूरवर्ती पदार्थ जैसे संख्यात असंख्यात कोशों दूर देशोंमें स्थित सुमेरुपर्वत, नन्दीश्वर द्वीप, स्वयंभूरमण, सौधर्मस्वर्ग, ब्रह्मलोक इत्यादि तथा संख्यात असंख्यात वर्षोंके पहिले अतीत कालादिमें होते हुवे कुलकर तीर्थंकर राम रावणादि महापुरुष । इन सब प्रकारकी वस्तुओंको जो तीनों लोकोमें हैं थीं और होंगीं उनको वह श्रीवर्द्धमान स्वामीका कहा हुआ श्रुतज्ञान हम छद्मस्थज्ञानियोंको दर्शाता है । इसलिये इसकी उपर्युक्त दर्पणकी समान उपमा बताई है ।

अथ तन्नमस्कारकरणानन्तरं किं कर्तुं लग्नो भवानित्याह—

धर्मोपदेश करनेकी प्रतिज्ञा

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

'देशयामि कथयामि । कम ? 'धर्मं' । कथंभूतं ? 'समीचीनं' अबाधितं तदनुष्ठातृणामिह परलोके चोपकारकम् । कथं तं तथा निश्चितवन्तो भवन्तः इत्याह 'कर्मनिबर्हणं' यतो धर्मः संसारदुःख-सम्पादककर्मणां निबर्हणो विनाशकस्ततो यथोक्तविशेषणविशिष्टः । अमुमेवार्थं व्युत्पत्तिद्वारेणास्य समर्थयमानः संसारेत्याद्याह । संसारे चतुर्गतिके दुःखानि शारीरमानसादीनि । तेभ्यः 'सत्त्वान्' प्राणिन उद्धृत्य 'यो धरति' स्थापयति । क ? 'उत्तमे सुखे' स्वर्गापवर्गादि-प्रभवे सुखे, स धर्म इत्युच्यते ॥ २ ॥

अन्वयः—अहं समीचीनं धर्मं देशयामि । कथंभूतं धर्मं ? कर्म-निवर्हणम् । यः सत्त्वान् संसारदुःखतः उत्तमे सुखे धरति ।

निरुक्तिः—कर्माणि निवर्हयति इति कर्मनिवर्हणः तम् कर्मनि-वर्हणम् । तत्पुरुषः । संसारस्य दुःखानि इति संसारदुःखानि तेभ्यः संसारदुःखतः[1] ॥ २ ॥

अर्थ— मैं समंतभद्राचार्य समीचीन धर्मको कहता हूं। कैसा है वह धर्म ? मोहनीय आदि कर्मोंका नाश करनेवाला है तथा प्राणियोंको जन्ममरणरूपी दुःखोंसे छुटाकर उत्तम अविनश्वर शाश्वत सुखमें रखनेवाला है ॥ २ ॥

अथैवंविधधर्मस्वरूपतां कानि प्रतिपद्यन्त इत्याह—

धर्मका लक्षण

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।

१—"तसेः" ४।१।११४ इति तस्

यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

दृष्टिश्च तत्त्वार्थश्रद्धानं, ज्ञानं च तत्त्वार्थप्रतिपत्तिः, वृत्तं च चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं। सन्ति समीचीनानि च तानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि च। 'धर्मं' उक्तस्वरूपं 'विदुः' विदन्ति प्रतिपद्यन्ते। के ते? 'धर्मेश्वराः' रत्नत्रयलक्षणधर्मस्य ईश्वरा अनुष्ठातृत्वेन प्रतिपादकत्वेन च स्वामिनो जिननाथाः। कुतस्तान्येव धर्मो न पुनर्मिथ्यादर्शनादीन्यपीत्याह—यदीयेत्यादि। येषां सद्दृष्ट्यादीनां सम्बन्धीनि यदीयानि तानि च तानि प्रत्यनीकानि च प्रतिकूलानि मिथ्यादर्शनादीनि 'भवन्ति' सम्पद्यन्ते। का? 'भवपद्धतिः' संसारमार्गः। अयमर्थः—यतः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभूतानि मिथ्यादर्शनादीनि संसारमार्गभूतानि। अतः सम्यग्दर्शनादीनि स्वर्गापवर्गसुखसाधकत्वाद्धर्मरूपाणि सिद्ध्यन्तीति ॥ ३ ॥

अन्वयः—धर्मेश्वराः सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं विदुः यदीयप्रत्यनीकानि भवपद्धतिः भवन्ति ॥

निरुक्तिः—धर्मस्य ईश्वरा धर्मेश्वराः[1]। दृष्टिश्च ज्ञानं च वृत्तं च दृष्टिज्ञानवृत्तानि। सन्ति च (समीचीनानि) यानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि इति सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि। येषाम् इमानि यदीयानि, यदीयानि च प्रत्यनीकानि[2] इति यदीयप्रत्यनीकानि। भवस्य पद्धतिः भवपद्धतिः[3] ॥३॥

१–धर्मस्य उपज्ञातारः अर्हन्तः। २–दर्शनज्ञानचारित्राणां विरोधीनि मिथ्यादर्शनमिथ्याज्ञानमिथ्याचारित्राणि।
३–संसारमार्गः।

अर्थ—जिनेन्द्रदेव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहते हैं। इनके जो उलटे हैं (विरोधी-दुश्मन हैं) वे संसारके मार्ग हैं॥ ३॥

तत्र सम्यग्दर्शनस्वरूपं व्याख्यातुमाह—

सम्यग्दर्शनका लक्षण

श्रद्धानं परमार्थाना-माप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं, सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ ४॥

सम्यग्दर्शनं भवति। किं? 'श्रद्धानं' रुचिः। केषाम्? 'आप्तागमतपोभृतां' वक्ष्यमाणस्वरूपाणाम्। न चैवं षड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थानां श्रद्धानमसंगृहीतमित्याशङ्कनीयम् आप्तागमश्रद्धानादेव तच्छ्रद्धानसंग्रहप्रसिद्धेः। अबाधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचनं ह्यागमः। तच्छ्रद्धाने तेषां श्रद्धानं सिद्धमेव। किं विशिष्टानां तेषाम्? 'परमार्थानाम्' परमार्थभूतानां न पुनर्बौद्धादिमत इव कल्पितानाम्। कथंभूतं श्रद्धानं? 'अस्मयम्' न विद्यते वक्ष्यमाणो ज्ञानदर्पाद्यष्टप्रकारः स्मयो गर्वो यस्य तत्। पुनरपि किं विशिष्टं? 'त्रिमूढापोढं' त्रिभिर्मूढैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरपोढं रहितं यत्। 'अष्टांगं' अष्टौ वक्ष्यमाणानि निःशंकितत्वादीन्यङ्गानि स्वरूपाणि यस्य॥ ४॥

अन्वयः—आप्तागमतपोभृतां श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं भवति। कथंभूतानाम् आप्तागमतपोभृताम् परमार्थानाम्। कथंभूतं श्रद्धानं त्रिमूढापोढं पुनः अस्मयम्। कथंभूतं सम्यग्दर्शनम् अष्टाङ्गम्।

निरुक्तिः—आप्तश्च आगमश्च तपोभृच्च इति आप्तागमतपोभृतः, तेषाम् आप्तागमतपोभृताम। परमः अर्थो येषां ते परमार्थाः तेषाम् पर-

मार्थानां। त्रयो मूढाः इति त्रिमूढाः। त्रिमूढेभ्यः[१] अपोढः सः त्रिमूढापोढः तम् त्रिमूढापोढम्। अष्टौ अंगानि यस्य तत् अष्टाङ्गम्। न सन्ति स्मया यस्मिन् वा यस्य तद् अस्मयम् ॥४॥

अर्थ—अरहंतदेव जिनागम और निर्ग्रन्थ गुरुका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। कैसे है वे तीनों, चारों अर्थोंमेंसे मोक्ष ही है अर्थ जिनोंका। कैसा है वह श्रद्धान? तीन मूढ़ताओंसे रहित है तथा आठ मदोंसे रहित है। कैसा है सम्यग्दर्शन? जिसके आठ अंग हैं।

तत्र सद्दर्शनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

आप्तका लक्षण

आप्तेनोत्सन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

'आप्तेन' भवितव्यं, 'नियोगेन' निश्चयेन नियमेन वा। किं विशिष्टेन? 'उत्सन्नदोषेण' नष्टदोषेण। तथा 'सर्वज्ञेन' सर्वत्र विषयेऽशेषविशेषतः परिस्फुटपरिज्ञानवता नियोगेन भवितव्यम्। तथा 'आगमेशिना' भव्यजनानां हेयोपादेयतत्त्वप्रतिपत्तिहेतुभूतागमप्रतिपादकेन नियमेन भवितव्यम्। कुत एतदित्याह—'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' 'हि' यस्मात् अन्यथा उक्तविपरीतप्रकारेण, आप्तता न भवेत् ॥ ५ ॥

१—कास्यादिभिः १।३।३२ इति कापसः पञ्चमी तत्पुरुषः न तु तृतीया तत्पुरुषः।

अन्वयः–नियोगेन उत्सन्नदोषेण आप्तेन भवितव्यं, नियोगेन सर्वज्ञेन आप्तेन भवितव्यम्। नियोगेन आगमेशिना आप्तेन भवितव्यम् हि अन्यथा आप्तता न भवेत्॥

निरुक्तिः–उत्सन्नाः उच्छिन्नाः विदीर्णाः दोषाः येन सः उत्सन्नदोषः तेन उत्सन्नदोषेण। सर्वान् द्रव्यगुणपर्यायान् जानाति सः सर्वज्ञः तेन सर्वज्ञेन। आगमम् ईष्टे कथयति इति आगमेशी तेन आगमेशिना॥५॥

अर्थ---नियमसे दोषोंसे रहितही आप्त होता है तथा निश्चयसे सर्वज्ञ ही आप्त होता है और नियमसे आगमका जाननेवाला उपदेश करनेवाला ही आप्त होता है, इन तीनों गुणोंके विना आप्त नहीं होता।

अथ के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्ना इत्याशंकयाह–

दोषोंके नाम

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च, यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥६॥

क्षुच्च बुभुक्षा। पिपासा च तृषा। जरा च वृद्धत्वं। आतङ्कश्च

१–'उच्छिन्नदोषेण' इत्यपि पाठः उत्पूर्वक षद्लृशातने छिदिर् द्वैधीकरणे च धोः क्तः "द्रान्तस्य तो नोऽमत्पृमूर्छाम्" ५।३।८० अनेन तकारस्य नकारो दकारस्य च नत्वम्। उद्देशे विधेये च कर्तरि तृतीया। २–भवितव्यमिति भू धोः "तव्यानीयौ" २।१।१०२। 'तयोर्व्योक्तखार्थे.' २।४,५८ इति भावे तव्यः।

व्याधिः । जन्म च कर्मवशाच्चतुर्गतिषूत्पत्तिः । अन्तकश्च मृत्युः । भयं चेहपरलोकात्राणागुप्तिमरणवेदनाऽऽकस्मिकलक्षणम् । स्मयश्च जातिकुलादिदर्पः । रागद्वेषमोहा प्रसिद्धाः । चशब्दाच्चिन्तारतिनिद्राविस्मयमदविषादस्वेदखेदा गृह्यन्ते । एतेऽष्टादशदोषा यस्य न सन्ति स आप्तः 'प्रकीर्त्यते' प्रतिपाद्यते । ननु चाप्तस्य भवेत् क्षुत्, क्षुदभावे आहारादौ प्रवृत्त्यभावाद्देहस्थितिर्न स्यात् । अस्ति चासौ, तस्मादाहारसिद्धिः । तथा हि । भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत् । जैनेनोच्यते अत्र किमाहारमात्रं साध्यते कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारः । देवानां सर्वदा कवलाहाराभावेऽप्यस्याः संभवात् । अथ मानसाहारात्तेषां तत्र स्थितिस्तर्हि केवलिनां कर्मनोकर्माहारात् सास्तु । अथ मनुष्यदेहस्थितित्वादस्मदादिवत्सा तत्पूर्विका इष्यते तर्हि तद्वदेव तद्देहे सर्वदा निःस्वेदत्वाद्यभावः स्यात् । अस्मदादावनुपलब्धस्यापि तदतिशयस्य तत्र संभवे भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यतिशयःकिं न स्यात् । किं च अस्मदादौ दृष्टस्य धर्मस्य भगवति सम्प्रसाधने तज्ज्ञानस्येन्द्रियजनितत्वप्रसंगः स्यात्-तथा हि-भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवत् । अतो भगवतःकेवलज्ञानलक्षणातीन्द्रियज्ञानासंभवात् सर्वज्ञत्वाय दत्तो जलांजलिः । ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे देहस्थितित्वाऽविशेषेऽपि तद्देहस्थितेरकवलाहारपूर्वकत्वं किं न स्यात् । वेदनीयसद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तेर्भोजनादौ प्रवृत्तिरित्युक्तिरनुपपन्ना मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने साम-

र्थ्यात् । भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीण-मोहे भगवति स्यात् ? अन्यथा रिरंसाया अपि तत्र प्रसंगात् कम-नीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्याविशेषाद्वीतरागता न स्यात् । विपक्षभावनावशाद्रागादीनां ह्रान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्पर-मप्रकर्षप्रसिद्धेर्वीतरागतासंभवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात् तद्भावनातो भोजनादावपि ह्रान्यतिशयदर्शनाविशेषात् । तथा हि—एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुंक्ते, कदाचित् विप-क्षभावनावशात् स एव पुनरेकवारं भुंक्ते । कश्चित् पुनरेकदिना-द्यन्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमासंवत्सराद्यन्तरितभोजन इति । किं च बुभुक्षापीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद्भवेत् तदास्वादनं चास्य रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा ? रसनेन्द्रियाच्चेत् मतिज्ञानप्रसंगात् केवलज्ञानाभावः स्यात् । केवलज्ञानाच्चेत् किं भोजनेन ? दूरस्थस्यापि त्रैलोक्योदरवर्तिनो रसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसंभवात् । कथं चास्य केवलज्ञानसंभवो भुंजानस्य श्रेणीतः पतितत्वेन प्रमत्तगुणस्थानवर्ति-त्वात् । अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति । नार्ह-न्भुञ्जानोऽपीति महच्चित्रम् । अस्तु तावज्ज्ञानसंभवः तथाप्यसौ केवल-ज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि पश्यन् कथं भुंजीत अन्तरायप्रसंगात् । गृहस्था अप्यल्पसत्त्वास्तानि पश्यन्तोऽन्तरायं कुर्वन्ति, किं पुनर्भगवा-ननन्तवीर्यस्तन्न कुर्यात् । तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि हीनस-त्त्वप्रसंगात् । क्षुत्पीडासंभवे चास्य कथमनन्तसौख्यं स्यात् यतोऽनन्त-चतुष्टयस्वामिताऽस्य । न हि सान्तरायस्यानन्तता युक्ता ज्ञानवत् । न च बुभुक्षा पीडैव न भवतीत्यभिधातव्यम् "क्षुधासमा नास्ति शरी-

स्वेदना" इत्यभिधानात्। तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्याय-कुमुदचन्द्रे प्रपंचतः प्ररूपणात् ॥ ६ ॥

अन्वयः—यस्य क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः राग-द्वेषमोहाः च न सन्ति सः आप्तः प्रकीर्त्यते।

निरुक्तिः – क्षुच्च[1] पिपासा च जरा च आतङ्कश्च जन्म च अन्त-कश्च भयश्च स्मयश्च इति क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः रागश्च द्वेषश्च मोहश्च इति रागद्वेषमोहाः ॥ ६ ॥

अर्थ–जिसमें क्षुधा, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद तथा राग द्वेष मिथ्यात्व चिंता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद (मद) स्वेद, खेद ये अठारह दोष नहीं होते वह आप्त कहा गया है। अर्थात् ये अठारह दोष संसारी दुःखित प्राणियोंकेही होते हैं किन्तु सर्वज्ञ परमात्माके नहीं रहते ॥ ६ ॥

अथोक्तदोषैर्विवर्जितस्याप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह—

उस आप्तके विशेषण विशिष्ट नाम

परमेष्ठी परंज्योति-र्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः, सार्वः शास्तोपलाल्यते

परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति 'परमेष्ठी'। परं निरावरणं परमातिशयप्राप्तं ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ परंज्योतिः। 'विरागो' विगतो

१–क्षुध बुभुक्षायाम् इति धोः क्विप्। क्षोधनं भोक्तुमिच्छेति क्षुत्।

रागो भावकर्म यस्य। 'विमलो' विनष्टो मलो द्रव्यरूपो मूलोत्तरकर्मप्रकृतिप्रपंचो यस्य। 'कृती' निःशेषहेयोपादेयतत्त्वे विवेकसम्पन्नः। 'सर्वज्ञो' यथावन्निखिलार्थसाक्षात्कारी। 'अनादिमध्यान्तः' उक्तस्वरूपाप्तप्रवाहापेक्षया आदिमध्यान्तशून्यः। 'सार्वः' इहपरलोकोपकारकमार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वेभ्यो हितः। 'शास्ता' पूर्वापरविरोधादिदोषपरिहारेणाखिलार्थानां यथावत्स्वरूपोपदेशकः। एतैः शब्दैरुक्तस्वरूप आप्त 'उपलाल्यते' प्रतिपाद्यते ॥ ७ ॥

अन्वयः—परमेष्ठी, परं ज्योतिः विरागः विमलः कृती सर्वज्ञः अनादिमध्यान्तः सार्वः शास्ता इति गणधरैः उपलाल्यते ॥

निरुक्तिः—परमे आर्हन्त्ये पदे तिष्ठति इति परमेष्ठी[१]। परं ज्योतिः यस्मिन् यस्य वा सः परंज्योतिः (केवलज्ञानी) विगतो रागो यस्य सः विरागः। विगतो मलः पापं यस्य यस्माद्वा स विमलः। कृतं कृत्यं येन स कृती[२]। सर्वान् द्रव्यगुणपर्यायान् जानाति सः सर्वज्ञः[३]। अनादिश्च मध्यश्च अन्तश्च इति अनादिमध्यान्तः। सर्वेभ्यः हितः इति सार्वः[४]। शास्ति जनान् इत्येवं शीलः असौ शास्ता[५] ॥

१–परमे वाचि ष्ठा गतिनिवृत्तौ धोः इन् "ईपोऽह्वलः"। ४।३।१५७ इति सप्तम्या अनुप् (अलुक्) "सुषमादिषु" ५।४।७७ इति मूर्धन्यषकारादेशः। २–"इष्टादेः" ४।१।३९ इति इन्। ३–आतः को ह्वावामः ।२।२।३। अनेन सर्वा इति कर्मकारकपूर्वकात् ज्ञा अवबोधने इति धोः कः त्यः। ४–'सर्वाण्णो' वा ३।४।१४ इति हितेऽर्थे णस्त्यः। ५–शास् अनुशिष्टौ इति धोः "शीलधर्मसाधौ" तृन् २।२।१२५। इति तृन् त्यः।

अर्थ—परमपद जो अरहन्तपद उसमें तिष्ठे-विद्यमान रहै सो परमेष्ठी १। उत्कृष्ट है केवल ज्ञानरूपज्योति जिसमें सो परमज्योतिः २। नष्ट हो गया है रागद्वेषरूप विभाव जिसके सो विराग ३। दूर हो गये हैं मोहनीयादि पाप कर्म जिससे सो विमल। ४ करलीने हैं समस्त करने योग्य काम जिसने सो कृती ५। समस्त गुणपर्यायोंको जाने सो सर्वज्ञ ६। जिसका आदि मध्य और अन्त नहीं सो अनादिमध्यान्त ७। जो सबको हितकारी हो सो सार्व ८। जो जीवमात्रको हितकारी शिक्षा देवे सो शास्ता ९। इत्यादि नाम उस आप्तके कहे हैं। ॥ ७॥

सम्यग्दर्शनविषयभूताप्तस्वरूपमभिधायेदानीं तद्विषयभूतागमस्वरूपमभिधातुमाह;—

ऐसे ही आप्तका कहा हुआ आगम सम्यग्दर्शनका
विषयभूत है ऐसा बताते हैं

अनात्मार्थं विना रागैः, शास्ता शास्ति सतो हितम्
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शा,-न्मुरजः किमपेक्षते ॥८॥

'शास्ता' आप्तः। 'शास्ति' शिक्षयति। कान्? 'सतः' अविपर्यस्तादित्वेन समीचीनान् भव्यान्। किं शास्ति? 'हितं' स्वर्गादितत्साधनं च सम्यग्दर्शनादिकम्। किमात्मनः किंचित् फलमभिलषन्नसौ शास्तीत्याह—'अनात्मार्थं' न विद्यते आत्मनोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् शासनकर्मणि परोपकारार्थमेवासौ तान् शास्ति। "परोप-

"कारय सतां हि चेष्टितम्" इत्यभिधानात् । स तथा शास्तीत्येतत् कुतोवगतमित्याह 'विना रागैः' यतो लाभपूजाख्यात्यभिलाषलक्षण-परै रागैर्विना शास्ति ततोऽनात्मार्थं शास्तीत्यवसीयते । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमाह—ध्वनन्नित्यादि । शिल्पिकरस्पर्शाद्वादककराभिघाता-न्मुरजो मर्दलो ध्वनन् किमात्मार्थं किंचिदपेक्षते ? नैवापेक्षते । अय-मर्थः—यथा मुरजः परोपकारार्थमेव विचित्रान् शब्दान् करोति तथा सर्वज्ञः शास्त्रप्रणयनमिति ॥ ८ ॥

अन्वयः—शास्ता अनात्मार्थं रागैः विना सतः हितं शास्ति । शिल्पिकरस्पर्शात् ध्वनन् मुरजः किम् अपेक्षते ? अपितु नापेक्षते ॥८॥

निरुक्तिः—आत्मने इति आत्मार्थम् न आत्मार्थं इति अना-त्मार्थम् । शिल्पिनः करौ शिल्पिकरौ । शिल्पिकराभ्यां स्पर्शः इति शिल्पिकरस्पर्शः तस्मात् शिल्पिकरस्पर्शात् ॥

अर्थ—आप्त अपने विना प्रयोजन तथा रागके विना ही सत्पुरुषोंको (भव्यजीवोंको) हितकारी शिक्षा देता है । क्या मृदंग बजानेवालेके हाथकी ताड़नासे बजता हुआ मृदंग कुछ चाहता है ? वा कुछ राग करता है ? कुछ भी नहीं ।

कीदृशं तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह;—

आगमका लक्षण

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य,-मदृष्टेष्टविरोधकम् ।

१—'विनातिरूः' १।४।४८ इति षष्ठ्याः स्थाने तृतीया ।

२—शास् अनुशिष्टौ इति द्विकर्मकधो रूपम् ।

तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥९॥

'आप्तोपज्ञं' सर्वज्ञस्य प्रथमोक्तिः। अनुल्लंघ्यं यस्मात्तदाप्तोपज्ञं तस्मादिन्द्रादीनामनुल्लंघ्यमादेयं। कस्मात्? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुल्लंघ्यं यतः। 'अदृष्टेष्टविरोधकं' दृष्टं प्रत्यक्षं, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टेष्टाभ्यां विरोधो यस्य। तथाविधमपि कुतस्तत्सिद्धमित्याह—'तत्त्वोपदेशकृत्' यतस्तत्त्वस्य सप्तविधस्य जीवादिवस्तुनो यथावस्थितस्वरूपस्य वा उपदेशकृत् यथावत्प्रतिदेशकं ततो दृष्टेष्टाविरोधकम्। एवं विधमपि कस्मादवगतं? यतः 'सार्वं' सर्वेभ्यो हितं सार्वमुच्यते तत्कथं यथावत्तत्स्वरूपप्ररूपणमन्तरेण घटेत। एतदप्यस्य कुतो निश्चितमित्याह—'कापथघट्टनं' यतः कापथस्य कुत्सितमार्गस्य मिथ्यादर्शनादेर्घट्टनं निराकारकं' सर्वज्ञप्रणीतं शास्त्रं ततस्तत्सार्वमिति ॥ ९ ॥

अन्वयः-आप्तोपज्ञम् अनुल्लंघ्यम्, अदृष्टेष्टविरोधकम् तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं कापथघट्टनं शास्त्रं भवति।

निरुक्तिः-आप्तस्य उपज्ञमिति आप्तोपज्ञम्। न अन्यैः उल्लङ्घयितुं योग्यं तत् अनुल्लंघ्यम्। न दृष्टाः इष्टे विरोध यस्य तत् अदृष्टेष्टविरोधकम्[1]? तत्त्वानाम् उपदेशः इति तत्त्वोपदेशः

१-विरुन्धन्ति प्रतिबध्नन्तीति विरोधकाः। "ण्वुतृचौ"३।१।१३३ इति ण्वुः। इष्टस्य विरोधका इति इष्टविरोधकाः। न दृष्टा प्रत्यक्षीभूता इष्टविरोधका यस्य तत् तथा, अथवा न दृष्टानि इष्टविरोधकानि वाक्यानि सूत्राणि च यस्मिन् तत्। अथवा न सन्ति इष्टस्य प्रत्यक्षसिद्धस्य इष्टस्य स्वमान्यस्य च विरोधकानि वाक्यानि यस्मिन् तत्। इदं रत्नकरण्डश्रावकाचारशास्त्रमाप्तोपज्ञं भवति

तत्त्वोपदेशं कृतवत् इति तत्त्वोपदेशकृत् (क्विप् प्रत्ययः) सर्वेभ्यो हितम् इति सार्वम् । कुत्सितः पन्था इति कापथः । कापथो घट्यतेऽनेन इति कापथघट्टनम् ॥

अर्थ–जिसको प्रथम आप्तने कहा हो, जो दूसरोंसे खंडित नहीं किया जा सके, नहीं है तत्त्वोंमें विरोध जिसके

इति पक्षः । अनुल्लंघ्यत्वादिति हेतुः । यद् यदनुल्लङ्घ्यं भवति तत्तदाप्तोपज्ञं भवति यथा मोक्षशास्त्रम्, तथैव रत्नकरण्डश्रावकाचारः, अनुल्लङ्घ्यः । तस्मात् आप्तोपज्ञः एव । यच्चानुल्लङ्घ्यं न भवति (उल्लंघ्यं भवति) तदाप्तोपज्ञं हि न भवति यथोन्मत्तवचनम् । अत्र श्रावकाचारे अनुल्लङ्घ्यस्य निषेधो न वर्तते तस्मादाप्तोपज्ञत्वस्यापि निषेधो न वर्तते । इदं रत्नकरण्डश्रावकाचारशास्त्रं हि अनुल्लङ्घ्यं भवति अदृष्टेष्टविरोधकत्वात् । यद् यद्दृष्टेष्टविरोधकं भवति तत्तदनुल्लङ्घ्यं भवति यथा महापुराणम् । यच्चानुलङ्घ्यत्वं न भवति तच्चादृष्टेष्टविरोधकत्वमपि न भवति । यथा रथ्यापुरुषवचनम् । अयं श्रावकाचारः अदृष्टेष्टविरोधकत्वात् तत्त्वोपदेशकृत्त्वात् इत्यादि । अयं हि तत्त्वोपदेशकृत् सार्वत्वात् इत्यादि । अयं हि सार्वः–कापथघट्टनत्वात् । इत्यादि अनुमानप्रयोगाः शेषाः पाठकैर्नियोजनीयाः ।

१–"का पथ्यक्षे" ४।३।२७१ इति कु शब्दस्य का आदेशः "ऋक्पूरप्प थोऽत्" ४।२।६० इति सान्तः अत्यः । कापथपूर्वक घट्ट धोः "करणाधारे चानट्" २।३।११२ इति अनट् रयः ।

तथा तत्त्वोंका उपदेश करनेवाला हो, सर्व भव्यजीवोंका हितकारी हो और खोटेमार्गको दूर करनेवाला हो वही शास्त्र है ।

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह--

गुरुका लक्षण

विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरत्न स्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

विषयेषु स्रग्वनितादिष्वाशा आकाङ्क्षा तस्या वशमधीनता । तदतीतो विषयाकाङ्क्षारहितः । 'निरारम्भः' परित्यक्तकृष्यादिव्यापारः । 'अपरिग्रहो' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः । 'ज्ञानध्यानतपोरत्नः' ज्ञानध्यानतपांस्येव रत्नानि यस्य एतद्गुणविशिष्टो यः स तपस्वी गुरुः 'प्रशस्यते' श्लाघ्यते ॥ १० ॥

अन्वयः--सः तपस्वी[1] प्रशस्यते, सः कः ? यः विषयाशावशातीतः निरारम्भः अपरिग्रहः ज्ञानध्यानतपोरत्नः[2] ॥१०॥

निरुक्तिः--विषयानाम् आशा विषयाशा । विषयाशाया वशः विषयाशावशः । तेन (विषयाशावशेन) अतीतः इति विषयाशावशातीतः । निर्गतः आरम्भो यस्मात् स निरारम्भः । नास्ति परिग्रहो

१--तपांसि विद्यन्ते यस्य स तपस्वी । "मायामयामेधास्रजः तपोऽसा विन्"४।१।७४ इति विन् । "मत्वर्थे स्तौ"१।२।१२३ इति भ-संज्ञात्वात्--"नपबाध्य आसम्" १।२।१०४ इति पदसंज्ञाया बाधितत्वाद्रुत्वादयो न भवन्ति ।

यस्य इति अपरिग्रहः । ज्ञानं च ध्यानं च तपश्च इति ज्ञानध्यान-तपांसि। तानि रत्नानि यस्य स "ज्ञानध्यानतपोरत्नः" रक्तः इति पाठे तु ज्ञानध्यानतपस्सु रक्तः इति ज्ञानध्यानतपोरक्तः ॥

अर्थ-वे गुरु प्रशंसनीय हैं, कौनसे? जो विषयोंकी आशाओंसे रहित हैं, आरंभरहित हैं और ज्ञान ध्यान तथा तपमें लवलीन हैं। अथवा ज्ञानध्यान और तप हैं रत्न जिनके। अर्थात् उनके पास ये रत्न विद्यमान हैं। किन्तु अन्य परिग्रह नहीं है ॥१०॥

इदानीमुक्तलक्षणदेवागमगुरुविषयस्य सम्यग्दर्शनस्य निःशंकितत्वगुणस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

निश्शङ्कित अङ्गका, लक्षण कहते हैं।

इदमेवेदृशमेव, तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्,सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥११॥

'रुचिः' सम्यग्दर्शनं। 'असंशया' निःशंकितत्वधर्मोपेता। किं विशिष्टा सती? 'अकम्पा' निश्चला। किंवत्? 'आयसाम्भोवत्' अयसि भवमायसं तच्च तदम्भश्च पानीयं तदिव तद्वत् खड्गादिगत-पानीयवदित्यर्थः। क्व साऽकम्पेत्याह—'सन्मार्गे' संसारसमुद्रोत्तरणार्थं सद्भिर्मृग्यते अन्वेष्यत इति सन्मार्गः आप्तागमगुरुप्रवाहस्तस्मिन्। केनोल्लेखेनेत्याह-'इदमेवेत्यादि' इदमेवाप्तागमतपस्विलक्षणं तत्त्वम्। 'ईदृशमेव' उक्तप्रकारेणैव लक्षणेन लक्षितं। 'नान्यत्' एतस्माद्भिन्नं

न । 'न चान्यथा' उक्ततल्लक्षणादन्यथा परपरिकल्पितलक्षणेन कल्पितम्, 'न च' नैव तद्घटते इत्येवमुल्लेखेन ॥ ११ ॥

अन्वयः—तत्त्वम् इदम् एव, अन्यत् न । तत्त्वम् ईदृशम् एव, अन्यथा न च इति सन्मार्गे आयसाम्भोवत् अकम्पा सा असंशया रुचिः भवति ॥

निरुक्तिः—तस्य भावः तत्त्वम्[1], अन्येन प्रकारेण इति अन्यथा[2] नास्ति कम्पो यस्यां सा अकम्पा,-अयसः विकारः इति आयसः[3] । आयसस्य अम्भः इति आयसाम्भः । आयसाम्भः इव इति आयसाम्भोवत् । सँश्चासौ मार्गः सन्मार्गः तस्मिन् सन्मार्गे । नास्ति संशयो यस्यां सा असंशया ॥ ११ ॥

अर्थ—तत्त्व (हितरूप) ये आप्त, आगम, तपस्वी ही हैं और नहीं हैं । ये आप्त आगम और तपस्वी इसही

१—तेषाम् आप्तागमतपोभृतां भावः स्वरूप इति तत्त्वम् । "भावे त्वतल्" ३।४।१३६ इति त्व त्यः । २—प्रकारे था ४।१।१३१ इति था त्यः । ३—"हेमादिभ्योऽञ्"३।३।१२७ इति विकारे अञ्त्यः । ४—आयसाम्भसः इवेति आयसाम्भोवत् "तस्य" ३।४।१३५ इति वत् । अथवा "सुप इवे" ३।४।१३३ इति वत् । अत्र रत्नकरण्ड-श्रावकाचारे उपासकाऽध्ययने शास्त्रे तत्त्वपदेन आप्तागमत-पस्विनामेव ग्रहणम् । इति सर्वाद्यन्तर्गत इदम् पदेन अंगुल्या निर्देशेन ज्ञायते । नात्र जीवादीनां तत्त्वानां ग्रहणम् । तेषां च स्वरूपोपलक्षणं च तदेव यच्च उपरितनकारिकासु स्वामिभि-रुक्तं स्वयम् ।

स्वरूपवाले (लक्षणवाले) हैं अन्य प्रकारके नहीं हैं। इस प्रकार सन्मार्गमें तलवारके पानीके समान निष्कंप (निश्चल) होना सो असंशया रुचि है॥ ११॥

इदानीं निष्काङ्क्षितत्वगुणं सम्यग्दर्शने दर्शयन्नाह—

अनाकांक्षण अंगका लक्षण

कर्मपरवशे सान्ते, दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धाऽनाकाङ्क्षणा स्मृता

'अनाकाङ्क्षणा स्मृता' निष्काङ्क्षितत्वं निश्चितम्। कासौ 'श्रद्धा'। कथंभूता? 'अनास्था' न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्याम्। न आस्था अनास्था। तस्यां तया वा श्रद्धा अनास्था श्रद्धा सा चाप्यनाकाङ्क्षणेति स्मृता। क्व अनास्थाऽरुचिः? 'सुखे' वैषयिके। कथंभूते? 'कर्मपरवशे' कर्मायत्ते। तथा 'सान्ते' अन्तेन विनाशेन सह वर्तमाने। तथा 'दुःखैरन्तरितोदये' दुःखैर्मानसशारीरैरन्तरित उदयः प्रादुर्भावो यस्य तथा 'पापबीजे' पापोत्पत्तिकारणे।१२।

अन्वयः—सुखे अनास्था इति श्रद्धा अनाकाङ्क्षणा स्मृता। कथंभूते सुखे? कर्मपरवशे, पुनः? सान्ते। पुनरपि दुःखैरन्तरितोदये। पुनरपि पापबीजे।

निरुक्तिः—न आस्था अनास्था। कर्मणां परवश इति कर्मपर-

१—नास्ति काङ्क्षणा बांछा यस्यां रुच्यां सा अनाकाङ्क्षणा रुचिः। सांसारिकसुखेषु बाञ्छा न करोतीत्यर्थः।

२—आङ्पूर्वक ष्ठा गतिनिवृत्तौ धोः "गावातः" २।३।१०३ इत्यनेन अङ्। आस्थीयते निश्चीयते सा आस्था श्रद्धा।

वशः तस्मिन् कर्मपरवशे। अन्तेन सहितं सान्तं तस्मिन् सान्ते। अन्तरितः उदयो यस्य तत् अन्तरितोदयम्। तस्मिन् अन्तरितोदये। पापस्य वीजं पापबीजं तस्मिन् पापवीजे॥

अर्थ—सांसारिक सुखोंमें "स्थिरता नहीं है" ऐसी श्रद्धा करना सो अनाकांक्षणा रुचि है, सो सांसारिक सुख कैसा है? कर्मोंके अधीन है तथा नाशवन्त है और दुखरूप फलका है उदय (दुखोंकरि मिला हुवा है फल) जिसमें पापका बीज है (पापबन्धका कारण है)॥ १२॥

सम्प्रति निर्विचिकित्सागुणं सम्यग्दर्शनस्य प्ररूपयन्नाह—

निर्विचिकित्सा अंगका लक्षण।

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीति-र्मता, निर्विचिकित्सिता॥१३

'निर्विचिकित्सिता मता' अभ्युपगता। कासौ? 'निर्जुगुप्सा' विचिकित्साभावः। क्व? काये। किंविशिष्टे? 'स्वभावतोऽशुचौ' स्वरूपेणापवित्रिते। इत्थं भूतेऽपि काये 'रत्नत्रयपवित्रिते' रत्नत्रयेण पवित्रिते पूज्यतां नीते। कुतस्तथाभूते निर्जुगुप्सा भवतीत्याह—'गुणप्रीतिः' यतो गुणेन रत्नत्रयाधारभूतमुक्तिसाधकत्वलक्षणेन प्रीतिर्मनुष्यशरीरमेवेदं मोक्षसाधकं नान्यद्देवादिशरीरमित्यनुरागः। ततस्तत्र निर्जुगुप्सेति॥ १३॥

अन्वयः—व्रतिनां काये निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिः निर्विचिकि-

त्सिता मता। कथं भूते काये स्वभावतः अशुचौ पुनः रत्नत्रयपवित्रिते॥ १३ ॥

निरुक्तिः—निर्गता जुगुप्सा यस्याः सा निर्जुगुप्सा। गुणेषु प्रीतिः गुणप्रीतिः। निर्गता विचिकित्सिता यस्याःसा निर्विचिकित्सिता। त्रयो अवयवाः यस्य तत् त्रयम्। रत्नानां त्रयम् रत्नत्रयम्। रत्नत्रयेण पवित्रितः इति रत्नत्रयपवित्रितः तस्मिन् रत्नत्रयपवित्रिते॥ १३ ॥

अर्थ--व्रतियोंके शरीरमें ग्लानि नहीं करना किन्तु उनके चारित्रादिगुणोंमें प्रीति करना सो निर्विचिकित्सिता रुचि जानना। कैसा है उनका शरीर? स्वभावसे तो मलिन है किन्तु रत्नत्रयसे पवित्र है॥ १३॥

१–स्वभावेनेति स्वभावतः। 'आद्यादिभ्यस्तसिः' ४।२।६० 'तसेः' ४।१।११४ इत्याभ्यां तस्। २–गुप् धोः "कित्गुपतिजः सन् भिषज्यादिनिन्दाक्षमे" २।१।३ इति निन्दायां सन्। द्वित्वादिकार्ये पुनः "स्वात्" २।३।६६ अनेन अत्यः स्त्रीलिङ्गे टाप् च। 'जुगप्सा निन्दा ग्लानिरिति यावत्'। निर्गता नष्टा जुगुप्सा यस्याः यस्यां वा निर्जुगुप्सा।

३–कित रोगापनयने धोः भिषज्यायां सन् ततो भूते काले "तः" २।२।१०० इति क्तत्यः, इट् च। विगतं चिकित्सितमिति विचिकित्सितं। निर्गतं चिकित्सितं यस्या रुचेः सा निर्विचिकित्सिता। चिकित्साया निषेधस्य निषेधो यत्र एतादृशो रुचिरित्यर्थः।

४–पूयन्ते निर्दोषा जायन्ते प्राणिनः अनेन इति पवित्रः "इत्रः त्वो दैवते" २।२।१७२ इति इत्र त्यः पवित्रः अर्हन् सः जातः मनसि आत्मनि वा अस्य स पवित्रितः।

अधुना सद्दर्शनस्यामूढदृष्टित्वगुणं प्रकाशयन्नाह—

अमूढदृष्टि अंगका लक्षण

कापथे पथि दुःखानां, कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्ति रनुत्कीर्ति-रमूढा दृष्टि रुच्यते ॥ १४ ॥

अमूढा दृष्टिरमूढत्वगुणविशिष्टं सम्यग्दर्शनं। का? 'असम्मतिः' न विद्यते मनसा सम्मतिः श्रेयः साधनतया सम्मननं यत्र दृष्टौ। क? 'कापथे' कुत्सितमार्गे मिथ्यादर्शनादौ। कथंभूते? 'पथि' मार्गे। केषां? 'दुःखानां' न केवलं तत्रैवासम्मतिरपि तु 'कापथ थेऽपि' मिथ्यादर्शनाद्याधारेऽपि जीवे। तथा 'असंपृक्तिः' न विद्यते सम्पृक्तिः कायेन नखच्छोटिकादिना अङ्गुलिचालनेन शिरोधूननेन वा प्रशंसा यत्र। 'अनुत्कीर्तिः' न विद्यते उत्कीर्तिरुत्कीर्तनं वाचा संस्तवनं यत्र। मनोवाक्कायैर्मिथ्यादर्शनादीनां तद्वतां चाप्रशंसाकरणममूढं सम्यग्दर्शनमित्यर्थः ॥ १४ ॥

अन्वयः—कापथे अपि कापथस्थे असंमतिः असंपृक्तिः अनु-

१—सं पूर्वक मनु अवबोधने सं पूर्वक पृचोङ् संपर्चने, उत्पूर्वक कृत आख्याने एभ्यः "स्त्रियां क्तिः" ३।३।९४ अनेन क्तिः। "हन्मन्यम् रम् नम् गम् वनतितनादेर्डलं झलि" ।४।४।३६ इति ङस्य मकारस्य लम्। "चोः कुः" ८।२।३० इति चकारस्य ककारादेशः। कृति जूति स्नाति हेति कीर्तिः।" ३।३।९७ इति ईरादेशः तस्य लम्। सम्मतिः सम्पृक्तिः उत्कीर्तिः इति पदानि सिद्धानि।

त्कीर्तिः सा गणधरैः अमूढा दृष्टिः उच्यते। कथंभूते कापथे, कथंभूते च कापथस्थे ? दुःखानां पथि।

निरुक्तिः—कुत्सितः पन्थाः कापथः तस्मिन् कापथे। कापथे तिष्ठति सः कापथस्थः तस्मिन् कापथस्थे। न संमतिः असंमतिः। न संपृक्तिः असम्पृक्तिः। न उत्कीर्तिः अनुत्कीर्त्तिः।

अर्थ—कुमार्ग और कुमार्गियोंमें सम्मति नहीं देना। उनसे संपर्क नहीं करना। उनकी प्रशंसा (तारीफ) नहीं करना, वह अमूढादृष्टि (अमूढा रुचि) है। कैसे हैं वे कुमार्ग और कुमार्गी ? दुःखोंमें पहुंचानेके मार्ग हैं।

अथोपगूहनगुणं तस्य प्रतिपादयन्नाह—

उपगूहन अंगका लक्षण

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य, बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम्॥१५॥

तदुपगूहनं वदन्ति। यत्प्रमार्जन्ति निराकुर्वन्ति प्रच्छादयन्तीत्यर्थः। काम् ? 'वाच्यताम्' दोषम्। कस्य ? 'मार्गस्य' रत्नत्रयलक्षणस्य। किंविशिष्टस्य ? 'स्वयं शुद्धस्य' स्वभावतो निर्मलस्य। कथंभूतां ? 'बालाशक्तजनाश्रयाम्' बालोऽज्ञः अशक्तो व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थः

१—नास्ति मूढं वैचिन्त्यमुन्मत्तता यस्यां दृष्ट्यां रुचौ सा अमूढा। जिसके अमूढदृष्टि अंग है वह मिथ्याधर्मके प्रचार करनेवालोंके साथ भोजन पान नहीं करता और न उनके साथ प्रचारमें दान मान करता है।

स चासौ जनश्च स आश्रयो यस्याः । अयमर्थः—हिताहितविवेकविकल व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थजनमाश्रित्यागतस्य रत्नत्रये तद्वति वा दोषस्य यत् अच्छादनं तदुपगूहनमिति ॥ १५ ॥

अन्वयः—यत् मार्गस्य वाच्यतां प्रमार्जन्ति तत् उपगूहनं वदन्ति कथम्भूतस्य मार्गस्य ? स्वयं शुद्धस्य । कथंभूतां वाच्यताम् ? बाला-शक्तजनाश्रयाम् ॥

निरुक्तिः—स्वयं च यः शुद्धः स्वयं शुद्धः तस्य स्वयंशुद्धस्य। बालाश्च अशक्ताश्च ये जनाः ते बालाशक्तजनाः तेषु बालाशक्तजनेषु आश्रयो यस्याः सा बालाशक्तजनाश्रया, तां बालाशक्तजनाश्रयाम् ॥

अर्थ—जिस हेतुसे मोक्षमार्गमें आई हुई किंवदन्ती दूर की जाती है उस हेतुको उपगूहन अंग कहते हैं । कैसा है वह मोक्षमार्ग? जो स्वयं ही शुद्ध है। और कैसी है वह किंव-दन्ती? जो कि अज्ञानी और असमर्थ जनोंके आश्रयसे हुई है।

अथ स्थितीकरणगुणं सम्यग्दर्शनस्य दर्शयन्नाह—

स्थितीकरण अंगका लक्षण ।

दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः, स्थितीकरणमुच्यते ॥१६॥

१—उपेत्य गुह्यते संव्रियते प्रमार्ज्यते अनेन हेतुनेति उपगूहनम् गुहूञ् संवरणे धोः "करणाधारे चानट्" २।३।११२ इति अनः 'गोहरुहूञ' ४।४।८७ इति उकारस्य ऊकारः ।

'स्थितीकरणम्' अस्थितस्य दर्शनादेश्चलितस्य स्थितं क्रियते स्थितीकरणमुच्यते। कैः ? प्राज्ञैस्तद्विचक्षणैः। किं तत् ? प्रत्यवस्थापनं' दर्शनादौ पूर्ववत् पुनरप्यवस्थापनं। केषां ? 'चलताम्' कस्मात् दर्शनाच्चरणाद्वापि। कैस्तेषां प्रत्यवस्थापनम् ? 'धर्मवत्सलैः' धर्मवात्सल्ययुक्तैः ॥ १६ ॥

अन्वयः—तत प्राज्ञैः स्थितीकरणम् उच्यते। तत् किम् ? यत् दर्शनात् वा अपि चरणात् चलतां जीवानां धर्मवत्सलैः प्रत्यवस्थापनम्।

निरुक्तिः—धर्मे धर्मस्य वा वत्सलाः धर्मवत्सलाः तैः। प्रज्ञा विद्यते येषु प्राज्ञाः तैः प्राज्ञैः। अस्थितं स्थितं क्रियते इति स्थितीकरणम्।

अर्थ—वह श्रुतज्ञानियोंने स्थितीकरण कहा है, जो कि सम्यग्दर्शनसे वा सम्यक्चारित्रसे डिगते हुओंका धर्म-प्रेमियोंद्वारा फिरसे धर्ममें स्थापन करना है ॥ १६ ॥

अथ वात्सल्यगुणस्वरूपं दर्शने प्रकटयन्नाह—

वात्सल्य अंगका लक्षण।

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भाव, सनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७॥

१–प्रति अव पूर्वकाद् णिजन्तात् ष्ठा धोः "ह्रीव्लीरीक्नूय्य-र्त्रीक्ष्माय्यातां पुग्णावेप्" ५।२।४२ इति पुगागमः तत अनः त्यः। २–वत्सः स्नेहोऽस्ति येषु ते वत्सलाः। ३–'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तेर्णः' ४।१।५३ इति णत्यः। ४–"कृभ्वस्तिभ्यां योगेऽतत्तत्त्वे संपत्तरि च्विः ४।२।६७ इति च्विः। "अस्य च्वौ" ५।२।१५९ इति अकारस्य ईकारः।

'वात्सल्यं' सधर्मिणि स्नेहः। 'अभिलप्यते' प्रतिपाद्यते। कासौ? 'प्रतिपत्तिः' पूजाप्रशंसादिरूपा। कथं? 'यथायोग्यम्' योग्यानतिक्रमेण अंजलिकरणाभिमुखगमनप्रशंसावचनोपकरणसम्प्रदानादिलक्षणा। कान् प्रति? 'स्वयूथ्यान्' जैनान् प्रति। कथंभूता 'सद्भावसनाथा' सद्भावेनावक्रतया सहिता चित्तपूर्विकेत्यर्थः। अत एव 'अपेतकैतवा' अपेतं विनष्टं कैतवं माया यस्याः॥ १७॥

अन्वयः–स्वयूथ्यान् प्रति यथायोग्यं प्रतिपत्तिः वात्सल्यम् अभिलप्यते। कथंभूता: प्रतिपत्तिः? सद्भावसनाथा। पुनः अपेतकैतवा

निरुक्तिः–स्वस्य यूथे भवाः स्वयूथ्याः तान् स्वयूथ्यान्। सद्भावैः सनाथा सद्भावसनाथा। अपेतः कैतवो यस्या वा यस्यां सा अपेतकैतवा। ये ये योग्याः इति यथायोग्यम्। वत्सलस्य भावः कर्म वा वात्सल्यम्। अभितः लप्यते इति अभिलप्यते॥ १७॥

अर्थ–अपने यूथवालोंका (धार्मिक भाइयोंका) यथा-

१–स्वयूथ्यान् प्रति अत्र "भागे चानुप्रतिपरिणा" १।४।१४ इत्यनेन सम्बन्धे द्वितीया। सधर्माणां भद्राणां भव्यानां सत्कार-पुरस्कारः इति भावः। २–अप नि पूर्वक इण् धोः क्तः त्यः। वसे "क्तः" १।४।१२५ इति पूर्व प्रयोगः। ३–योगाय प्रभवो योग्याः "योग्यकार्मुके" ३।३।११८ इति यः त्यः। "पुनः यावद्यथैवानिवे" १।३।८ इति हसः। ४–वत्सः स्नेहो विद्यते येषां ते वत्सलाः तेषां भावः कर्म वा वात्सल्यम्। कर्मकारके वा विभक्ती। ५–अभि पूर्वक लपव्यक्तायां वाचि धोः कर्मणि लट् "गे यक्" २।१।८० इति यक्। "ञौ" १।२।७ इति लटः स्थाने दः।

योग्य आदर करना सो वात्सल्य अङ्ग कहा जाता है। कैसा है वह आदर? अच्छे भावोंसे सहित है और कपट भावोंसे रहित है॥ १७॥

अथ प्रभावनागुणस्वरूपं दर्शनस्य निरूपयन्नाह—

प्रभावना अङ्गका लक्षण

अज्ञानतिमिरव्याप्ति,मपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्य-प्रकाशः स्यात्प्रभावना।१८।

'प्रभावना' स्यात्। कासौ? 'जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः' जिनशासनस्य माहात्म्यप्रकाशस्तु तपोज्ञानाद्यतिशयप्रकटीकरणम्। कथम्? 'यथायथं' स्नपनदानपूजाविधानतपोमन्त्रतंत्रादिविषये आत्मशक्त्यनतिक्रमेण। किं कृत्वा 'अपाकृत्य' निराकृत्य। कां? 'अज्ञानतिमिरव्याप्तिम्' जिनमतात्परेषां यत्स्नपनदानादिविषयेऽज्ञानमेव तिमिरमन्धकारं तस्य व्याप्तिं प्रसरम॥ १८॥

अन्वयः—अज्ञानतिमिरव्याप्तिम् अपाकृत्य यथायथं जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः प्रभावना स्यात्॥

१—अज्ञानं मिथ्यात्वम्। तिमिरमिव स्वपरतत्त्वावगमे प्रतिबन्धकत्वात्। तस्य या लोकेषु विस्तृतिः तां दूरीकृत्य ज्ञानेन जैनतत्त्वोपदेशेन महोपासादिपरीषहोपसर्गविजयिना तपसा कामभोगेषु विरागतया च साधनेन रत्नत्रयं प्रभाव्यते प्रकाश्यते सा प्रभावना रुचिः भवति। प्र पूर्वक भू सत्तायां धोः णिजन्तात् "ण्यासश्रन्थघट्टिवन्दोऽनः" ।२।३।६४। इति भावे स्त्रीलिङ्गे अनः स्यः। अजाद्यतां टाप् ।३।१।४ इति टाप्।

निरुक्तिः—अज्ञानम् एव तिमिरम् अज्ञानतिमिरम्। अज्ञानतिमिरस्य व्याप्तिः इति अज्ञानतिमिरव्याप्तिः, ताम्। यथा अनतिक्रम्य वर्तते इति यथायथम्। जिनस्य शासनं जिनशासनम्। जिनशासनस्य माहात्म्यं जिनशासनमाहात्म्यम्। जिनशासनमाहात्म्यस्य प्रकाशः इति जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः ॥१८॥

अर्थ—अज्ञान अन्धकारको दूर कर यथार्थ पूर्वापर विरोध रहित ऐसे जिनशासनके महत्त्वका प्रगट करना सो प्रभावना अंग है ॥

इदानीमुक्तनिःशङ्कितत्वाद्यष्टगुणानां मध्ये कः केन गुणेन प्रधानतया प्रकटित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाह—

इन अंगोंके पालन करनेवाले ऐतिहासिक प्रसिद्ध पुरुषोंकी आदर्शनीय नामावलि कहते हैं।

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे, ततोऽनन्तमतिः स्मृता।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि, तुरीये रेवती मता ॥१९॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो, वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च वज्रनामा च, शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ ॥२०॥

तावच्छब्दः क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि निःशङ्कितत्वादीन्यष्टाङ्गान्युक्तानि तेषु मध्ये प्रथमे निःशङ्कितत्वेऽङ्गस्वरूपे तावल्लक्ष्यतां दृष्टान्ततां गतोऽञ्जनचौरः स्मृतो निश्चितः। द्वितीयेऽङ्गे निष्कांक्षितत्वे ततोऽञ्जनचौरादन्याऽनन्तमतिर्लक्ष्यतां गता मता। तृतीयेऽङ्गे

निर्विचिकित्सत्वे उद्दायनो लक्ष्यतां गतो मतः। तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यतां गता मता! ततस्तेभ्यश्चतुर्थेभ्योऽन्यो जिनेन्द्रभक्तः श्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यतां गतो मतः। ततो जिनेन्द्रभक्तात् परो वारिषेणः स्थितीकरणे लक्ष्यतां गतो मतः। विष्णुश्च विष्णुकुमारो वज्रनामा च वज्रकुमारः शेषयोर्वात्सल्यप्रभावनयोर्लक्ष्यतां गतौ मतौ। गता इति वहुवचननिर्देशो दृष्टान्तभूतोक्तात्मव्यक्तिबहुत्वापेक्षया ॥१९।२०॥

अन्वयः—तावत् अंगे अंजनचौरः[१]। ततः अनन्तमतिः स्मृता। तृतीये[२] अंगे उद्दायनः, अपि तुरीये[३] अंगे रेवती मता। ततः पञ्चमे अंगे जिनेन्द्रभक्तः ततः परः अन्यो वारिषेणः[४]। शेषयोः सप्तमाष्टमांगयोः विष्णुः च वज्रनामा, लक्ष्यतां[५] गतौ॥

निरुक्तिः—अञ्जनश्चासौ चौरश्च अञ्जनचौरः॥१९।२०॥

अर्थ—उपर कहे अनुसार सम्यक्त्वके आठ अंगोंमें

१–चुराशीलमस्येति चौरः। "छत्रादेरञ्" ३।३।२१७ इत्यञ्। २–त्रयाणां पूरणं तृतीयम् "त्रेस्तृ च" ४।१।८ इति त्रि शब्दस्य तृ आदेशः तीयः त्यश्च। ३–चतुर्णां पूरणं तुरीयम् "छयौ च लं च" ४।१।७ इति छ त्यः चकारस्य च लम्। ४–वारौ गजबन्धनभुवि सेना यस्य सः वारिषेणः "एत्यगः" ५।४।८७ इति मूर्धन्य षकारादेशः "प्राक्पदस्थात्तृखौ" ५।४।१००। इति णकारादेशश्च। ५–लक्षयितुं निर्देष्टुमुदाहर्तुं योग्या अर्हाः समर्था इति लक्ष्या आदर्शनीयाः "तृजव्याश्चार्हे" २।३।१६०। इति य त्यः तेषां भावो लक्ष्यता ताम्,तथा।

जो प्रसिद्ध हुवे हैं वे क्रमसे इस प्रकार हैं। प्रथम अंगमें अंजनचोर। दूसरे अंगमें अनंतमति। तीसरेमें उद्दायन राजा तथा चतुर्थमें रेवती राणी प्रसिद्ध हुई है। पांचवे अंगमें जिनेन्द्रभक्त उसके आगेके अंगमें वारिषेण राजा बाकी सातवे ओर आठवे अंगमें विष्णुकुमार और वज्र-कुमार ॥१९।२०॥

तत्र निःशङ्कितत्वेऽञ्जनचोरो दृष्टान्ततां गतोऽस्य कथेयम्

यथा धन्वंतरिविश्वलोमौ सुकृतकर्मवशादमितप्रभविद्युत्प्रभदेवौ संजातौ चान्योन्यस्य धर्मपरीक्षणार्थमत्रायातौ। ततो यमदग्निस्ताभ्यां तपसश्चालितः। मगधदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठी कृतोपवासः कृष्णाचतुर्दश्यां रात्रौ श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्टः। ततोऽमित-प्रभदेवेनोक्तं दूरे तिष्ठन्तु मदीया मुनयोऽमुं गृहस्थं ध्यानाच्चालयेति, ततो विद्युत्प्रभदेवेनानेकधा कृतोपसर्गोऽपि न चलितो ध्यानात्। ततः प्रभाते मायामुपसंहृत्य प्रशस्य चाकाशगामिनी विद्या दत्ता। तस्मै कथितं च तवेयं सिद्धाऽन्यस्य च पंचनमस्कारार्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति। सोमदत्तपुष्पवटुकेन चैकदा जिनदत्तश्रेष्ठी पृष्टः क भवान् प्रातरेवोत्थाय व्रजतीति। तेनोक्तमकृत्रिमचैत्यालयवन्दनाभक्तिं कर्तुं व्रजामि। ममेत्थं विद्यालाभः संजात इति कथिते तेनोक्तम। मम विद्यां देहि येन त्वया सह पुष्पादिकं गृहीत्वा वन्दनाभक्तिं करोमीति। ततः श्रेष्ठिना तस्योपदेशो दत्तः। तेन च कृष्णाचतुर्दश्यां श्मशाने वटवृक्षपूर्वशाखायामष्टोत्तरशतपादं दर्भशिक्यं बन्धयित्वा तस्य तले तीक्ष्णसर्वशस्त्राण्यूर्ध्वमुखानि धृत्वा गन्धपुष्पादिकं दत्त्वा शिक्यमध्ये

प्रविश्य षष्ठोपवासेन पंचनमस्कारानुच्चार्य छुरिकयैकैकं पादं छिन्द-ताऽधो जाज्वल्यमानप्रहरणसमूहमालोक्य भीतेन तेन संचिंतितं, यदि श्रेष्ठिनो वचनमसत्यं भवति तदा मरणं भवतीति शङ्कितमना वारं वारं चटनोत्तरणं करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे प्रजापालराज्ञः कनकराज्ञी-हारं दृष्ट्वाऽञ्जनसुन्दर्या विलासिन्या रात्रावागतोऽञ्जनचौरो भणितः यदि मे कनकराज्ञ्या हारं ददासि तदा भर्त्ता त्वं नान्यथेति। ततो गत्वा रात्रौ हारं चोरयित्वाऽञ्जनचोर आगच्छन् हारोद्योतेन ज्ञातोऽगरक्षः कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो हारं त्यक्त्वा प्रणश्य गतः, वटतले वटुकं दृष्ट्वा तस्मान्मंत्रं गृहीत्वा निःशङ्कितेन तेन विधिनैकवारेण सर्व-शिक्यं छिन्नं शस्त्रोपरि पतितः सिद्धया विद्यया भणित ममादेशं देहीति। तेनोक्तं जिनदत्तश्रेष्ठिपार्श्वे मां नयेति। ततः सुदर्शनमेरुचैत्यालये जिनदत्तस्याग्रे नीत्वा स्थितः (धृतः)। पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा तेन भणितं यथेयं सिद्धा भवदुपदेशेन तथा परलोकसिद्धावप्युपदेहीति। ततश्चारणमुनिसन्निधौ तपो गृहीत्वा कैलाशे केवलमुत्पाद्य मोक्षं गतः ॥ १ ॥

निःकांक्षितत्वेऽनन्तमती दृष्टान्तोऽस्याः कथा।

अङ्गदेशे चंपानगर्यां राजा वसुवर्धनो राज्ञी लक्ष्मीमती। श्रेष्ठी प्रियदत्तस्तद्भार्या अंगवती पुत्र्यनंतमती। नन्दीश्वराष्टम्यां श्रेष्ठिना धर्मकीर्त्याचार्यपादमूलेऽष्टदिनानि ब्रह्मचर्यं गृहीतम्। क्रीडयाऽनंतमती च ग्राहिता। अन्यदा संप्रदानकालेऽनंतमत्योक्तं-तात! मम त्वया ब्रह्म-चर्यं दापितमतः किं विवाहेन? श्रेष्ठिनोक्तं क्रीडया मया ते ब्रह्म-चर्यं दापितम्। ननु तात! धर्मे व्रते का क्रीडा। ननु पुत्रि! नंदीश्वरा-

ष्टदिनान्येव व्रतम् तव न सर्वदा दत्तम् । सोवाच ननु तथा भट्टारकैर-विवक्षितत्वादिति । इह जन्मनि परिणयने मम निवृत्तिरस्तीत्युक्त्वा सकलकलाविज्ञानशिक्षां कुर्वन्ती स्थिता यौवनभरे चैत्रे निजोद्याने आन्दोलयन्ती विजयार्धदक्षिणश्रेणिकिन्नरपुरविद्याधरराजेन कुंडलमंडि-तनाम्ना सुकेशीनिजभार्यया सह गगनतले गच्छता दृष्टा । किमनया विना जीवितेनेति संचिन्त्य भार्यां गृहे धृत्वा शीघ्रमागत्य विलपन्ती तेन सा नीता । आकाशे गच्छता भार्यां दृष्ट्वा भीतेन पर्णलघुविद्याः समर्प्य महाटव्यां मुक्ता । तत्र च तां रुदन्तीमालोक्य भीमनाम्ना भिल्लराजेन निजपल्लिकायां नीत्वा प्रधानराज्ञीपदं तव ददामि मामि-च्छेति भणित्वा रात्रावनिच्छन्तीं भोक्तुमारब्धा । व्रतमाहात्म्येन वन-देवतया तस्य ताडनाद्युपसर्गः कृतः । देवता काचिदियमिति भीतेन तेनावासितसार्थपुष्पकनाम्नः सार्थवाहस्य समर्पिता । सार्थवाहो लोभं दर्शयित्वा परिणेतुकामो न तया वाञ्छितः । तेन चानीयायोध्यायां कामसेनाकुट्टिन्याः समर्पिता, कथमपि वेश्या न जाता । ततस्तया सिंहराजस्य राज्ञो दर्शिता तेन च रात्रौ हठात् सेवितुमारब्धा । नगरदेवतया तद्व्रतमाहात्म्येन तस्योपसर्गः कृतः । तेन च भीतेन गृहान्निःसारिता । रुदती सखेदं सा कमलश्रीक्षान्तिकया श्राविकेति मत्वा ऽतिगौरवेण धृता । अथानंतमतीशोकविस्मरणार्थं प्रियदत्तश्रेष्ठी बहुसहायो वन्दनाभक्तिं कुर्वन्नयोध्यायां गतो निजस्यालकजिनदत्तश्रे-ष्ठिनो गृहे सन्ध्यासमये प्रविष्टो रात्रौ पुत्रीहरणवार्तां कथितवान् । प्रभाते तस्मिन् वन्दनाभक्तिं कर्तुं गते अतिगौरवितप्राघूर्णकनिमित्तं रसवतीं कर्तुं गृहे चतुष्कं दातुं कुशला कमलश्रीक्षान्तिकाया श्राविका

जिनदत्तभार्यया आकारिता। सा च सर्वं कृत्वा वसतिकां गता। वन्दनाभक्तिं कृत्वा आगतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना चतुष्कमालोक्या-नंतमतिं स्मृत्वा गह्वरितहृदयेन गद्गदितवचनेनाश्रुपातं कुर्वता भणितम्। यया गृहमण्डनं कृतं तां मे दर्शयेति। ततः सा आनीता तयोश्च मेलापके जाते जिनदत्तश्रेष्ठिना च महोत्सवः कृतः। अनन्तमत्या चोक्तः—तात! इदानीं मे तपो दापय दृष्ट-मेकस्मिन्नेव भवे संसारवैचित्र्यमिति। ततः कमलश्रीक्षान्तिकापार्श्वे तपो गृहीत्वा बहुना कालेन विधिना मृत्वा तदात्मा सहस्रारकल्पे देवो जातः॥ २॥

निर्विचिकित्सिते उद्दायनो दृष्टान्तोऽस्य कथा।

एकदा सौधर्मेन्द्रेण निजसभायां सम्यक्त्वगुणं व्यावर्णयता भरते वत्सदेशे रौरकपुरे उद्दायनमहाराजस्य निर्विचिकि[illegible]णः प्रशंसि-तस्तं परीक्षितुं वासवदेव उदुम्बरकुष्ठकुथितं मुनिरूपं विकृत्य तस्यैव हर्म्ये विधिना स्थित्वा सर्वमाहारं जलं च मायया भक्षयित्वाऽतिदुर्गन्धं बहुवमनं कृतवान्। दुर्गंधभयान्नष्टे परिजने प्रतीच्छतो राज्ञस्तद्देव्याश्च प्रभावत्या उपरि छर्दितम्, हा हा! विरुद्ध आहारो दत्तो मयेत्यात्मानं निन्दयतस्तं च प्रक्षालयतो मायां परिहृत्य प्रकटीकृत्य पूर्ववृत्तान्तं कथ-यित्वा प्रशस्य च तं, स्वर्गं गतः। उद्दायनमहाराजो वर्धमानस्वामि-पादमूले तपो गृहीत्वा मुक्तिं गतः। प्रभावती च तपसा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव॥ ३॥

अमूढदृष्टित्वे रेवती दृष्टान्तोऽस्य कथा।

विजयार्धदक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे नगरे राजा चन्द्रप्रभः चन्द्रशेखर-

पुत्राय राज्यं दत्वा परोपकारार्थं वन्दनाभक्त्यर्थं च कियतीर्विद्या दधानो दक्षिणमथूरायां गत्वा गुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जातः। तेनैकदा वन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथुरायां चलितेन गुप्ताचार्यः पृष्टः। किं कस्य कथ्यते ? भगवतोक्तं सुव्रतमुनेर्वन्दना वरुणराजमहाराज्ञीरेवत्या आशीर्वादश्च कथनीयः। त्रिःपृष्टेनापि तेन एतावदेवोक्तं। ततः क्षुल्लकेनोक्तं। भव्यसेनाचार्यस्यैकादशांगधारिणोऽन्येषां नामापि भगवान् न गृह्णाति तत्र किंचित्कारणं भविष्यतीति सम्प्रधार्य तत्र गत्वा सुव्रतमुनेर्भट्टारकीयां वन्दनां कथयित्वा तदीयं च विशिष्टं वात्सल्यं दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिकां गतः। तत्र गतस्य च भव्यसेनेन संभाषणमपि न कृतं। कुण्डिकां गृहीत्वा, भव्यसेनेन सह बहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणया हरितकोमलतृणांकुरच्छन्नो मार्गोऽग्रे दर्शितः तं दृष्ट्वा "आगमे किलैते जीवाः कथ्यन्ते" इति भणित्वा तत्रारुचिं कृत्वा तृणोपरि गतः शौचसमये कुण्डिकायां जलं नास्ति तथा विकृतिश्च क्वापि न दृश्यतेऽतोऽत्र स्वच्छसरोवरे प्रशस्तमृत्तिकया शौचं कृतवान्। ततस्तं मिथ्यादृष्टिं ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेननाम कृतम्। ततोऽन्यस्मिन् दिने पूर्वस्यां दिशि पद्मासनस्थं चतुर्मुखं यज्ञोपवीताद्युपेतं देवासुरवन्द्यमानं ब्रह्मरूपं दर्शितम्। तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च जना गताः। रेवती तु कोऽयं ब्रह्मनाम देवः इति भणित्वा लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता। एवं दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं च गदाशंखादिधारकं वासुदेवरूपं, पश्चिमायां दिशि वृषभारूढं सार्धचन्द्रजटाजूटगौरीगणोपेतं शंकररूपम्, उत्तरस्यां दिशि समवशरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकोपेतं सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यंकस्थितं तीर्थंकरदेवरूपं दर्शितम्।

तत्र च सर्वलोका गताः रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता। नवैव वासुदेवाः, एकादशैव रुद्राः, चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकरा जिनागमे कथिताः। ते चातीताः कोप्ययं मायावीत्युक्त्वा स्थिता। अन्ये दिने चर्यावेलायां व्याधिक्षीणशरीरक्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहप्रतोलीसमीपमार्गे मायामूर्च्छया पतितः। रेवत्या तमाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्वोपचारं कृत्वा पथ्यं कारयितुमारब्धः। तेन च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गन्धवमनं कृतम्। तदपनीय हा! विरूपकं मयाऽपथ्यं दत्तमिति रेवत्या वचनमाकर्ण्य तेषां मायामुपसंहृत्य तां देवीं वन्दयित्वा गुरोराशीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा लोकमध्ये तु अमूढदृष्टित्वं तस्या उच्चैः प्रशस्य स्वस्थाने गतः। वरुणो राजा शिवकीर्तिपुत्राय राज्यं दत्वा तपो गृहीत्वा माहेन्द्रस्वर्गे देवो जातः। रेवत्यपि तपः कृत्वा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव ॥ ४ ॥

उपगूहने जिनेन्द्रभक्तो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

सुराष्ट्रदेशे पाटलिपुत्रनगरे राजा यशोधरो राज्ञी सुसीमा पुत्रः सुवीरः सप्तव्यसनाभिभूतस्तथाभूततस्करपुरुषसेवितः। पूर्वदेशे गौडविषये ताम्रलिप्तनगर्यां जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिनः सप्ततलप्रासादोपरि बहुरक्षकोपयुक्त पार्श्वनाथप्रतिमाछत्रत्रयोपरि विशिष्टतरानर्घ्यवैडूर्यमणिं पारंपर्येणाकर्ण्य, लोभात्तेन सुवीरेण निजपुरुषाः पृष्टाः तं मणिं किं कोऽप्यानेतुं शक्तोऽस्तीति। इन्द्रमुकुटमणिमप्यहमानयामीति गलगर्जितं कृत्वा सूर्यनामा चौरः कपटेन क्षुल्लको भूत्वा अतिकायक्लेशेन ग्रामनगरक्षोभं कुर्वाणः क्रमेण ताम्रलिप्तनगरीं गतः। तमाकर्ण्य गत्वाऽऽलोक्य वन्दित्वा संभाष्य प्रशस्य क्षुभितेन जिनेन्द्रभक्तिश्रेष्ठिना नीत्वा पार्श्वनाथदेवं

दर्शयित्वा मायया अनिच्छन्नपि स तत्र मणिरक्षको धृतः। एकदा क्षुल्लकं पृष्ट्वा श्रेष्ठी समुद्रयात्रायां चलितो नगराद्बहिर्निर्गत्य स्थितः। स चौरक्षुल्लको गृहजनमुपकरणनयनव्यग्रं ज्ञात्वा अर्धरात्रे तं मणिं गृहीत्वा चलितः। मणितेजसा मार्गे कोट्टपालैर्दृष्टो धर्तुमारब्धः। तेभ्यः पलायितुमसमर्थः श्रेष्ठिन एव शरणं प्रविष्टो मां रक्ष रक्षेति चोक्तवान्। कोट्टपालानां कलकलमाकर्ण्य पर्यालोच्य तं चौरं ज्ञात्वा दर्शनोपहासप्रच्छादनार्थं भणितं श्रेष्ठिना—मद्वचनेन रत्नमनेनानीतमिति विरूपकं भवद्भिः कृतं यदस्य महातपस्विनश्चौरोद्घोषणा कृता। ततस्ते तस्य प्रमाणं कृत्वा गताः। स च श्रेष्ठिना रात्रौ निर्घाटितः। एवमन्येनापि सम्यग्दृष्टिना असमर्थाज्ञानपुरुषादागतदर्शनदोषस्य प्रच्छादनं कर्तव्यम्।

स्थितीकरणे वारिषेणो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको राज्ञी चेलिनी पुत्रो वारिषेणः उत्तमश्रावकः चतुर्दश्यां रात्रौ कृतोपवासः श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितः। तस्मिन्नेव दिने उद्यानिकायां गतया मगधसुन्दरीविलासिन्या श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्याः परिहितो दिव्यो हारो दृष्टः। ततस्तं दृष्ट्वा किमनेनालङ्कारेण विना जीवितेनेति संचिन्त्य शय्यायां पतित्वा सा स्थिता। रात्रौ समागतेन तदासक्तेन विद्युच्चोरेणोक्तं—प्रिये! किमेवं स्थितासीति। तयोक्तं—श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या हारं यदि मे ददासि तदा जीवामि त्वं च मे भर्ता नान्यथेति श्रुत्वा तां समुद्धीर्य अर्धरात्रे गत्वा निजकौशलेन तं हारं चोरयित्वा निर्गतः। तदुद्योतेन चौरोऽयमिति ज्ञात्वा गृहरक्षकैः कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो पलायितुमसमर्थो वारिषेणकुमारस्याग्रे तं हारं धृत्वाऽदृश्यो भूत्वा स्थितः। कोट्टपालैश्च तं

तथाखोक्य श्रेणिकस्य कथितम्-देव ! वारिषेणश्चौर इति । तं श्रुत्वा तेनोक्तं-मूर्खस्यास्य मस्तकं गृह्यतामिति । मातंगेन यो ऽसिः शिरो-ग्रहणार्थं वाहितः स कण्ठे तस्य पुष्पमाला बभूव । तमतिशयमाकर्ण्य श्रेणिकेन गत्वा वारिषेणः क्षमां कारितः । लब्धाभयप्रदानेन विद्यु-च्चौरेण राज्ञो निजवृत्तान्ते कथिते वारिषेणो गृहे नेतुमारब्धः । तेन चोक्तं मया पाणिपात्रेण भोक्तव्यमिति । ततोऽसौ सूतसेनमुनिसमीपे मुनिरभूत् । एकदा राजगृहसमीपे पलासकूटग्रामे चर्यायां स प्रविष्टः । तत्र श्रेणिकस्य योऽग्निभूतिर्मन्त्री, तत्पुत्रेण पुष्पडालेन स्थापितं चर्यां कारयित्वा स सोमिल्लां निजभार्यां पृष्ट्वा प्रभुपुत्रत्वाद्बालसखि-त्वाच्च स्तोकं मार्गानुव्रजनं कर्तुं वारिषेणेन सह निर्गतः । आत्मनो व्याघुटनार्थं क्षीरवृक्षादिकं दर्शयन् मुहुर्मुहुर्वन्दनां कुर्वन् हस्ते धृत्वा नीतो विशिष्टधर्मश्रवणं कृत्वा वैराग्यं नीत्वा तपो ग्राहितोऽपि सो-मिल्लां न विस्मरति । तौ द्वावपि द्वादशवर्षाणि तीर्थयात्रां कृत्वा वर्ध-मानस्वामिसमवशरणं गतौ । तत्र वर्धमानस्वामिनः पृथिव्याश्च सम्ब-न्धिगीतं देवैर्गीयमानं पुष्पडालेन श्रुतं । यथा

"मइल कुचेली दुम्मनी नाहे पवसिय एण । (नाहेय वसियएण)
कह जीवे सइ धणियघर उज्झंते हियएण ॥"

एतदात्मनः सोमिल्लायाश्च संयोज्य उत्कण्ठितश्चलितः । स वारि-षेणेन ज्ञात्वा स्थिरीकरणार्थं निजनगरं नीतः । चेलिन्या तौ दृष्ट्वा वारिषेणः किं चारित्राच्चलितः ? आगच्छतीति संचिन्त्य परीक्षणार्थं सरा गवीतरागे द्वे आसने दत्ते । वीतरागासने वारिषेणेनोपविश्योक्तं-मदी-यमन्तःपुरमानीयतां ततश्चेलिन्या महादेव्या द्वात्रिंशद्भार्याः सालङ्का-

रा आनीता । ततः पुष्पडालो वारिषेणेन भणितः-स्त्रियो मदीयम् युव-राजपदं च त्वं गृहाण । तच्छ्रुत्वा पुष्पडालो अतीवलज्जितः परं वैरा-ग्यं गतः परमार्थेन तपः कर्तुं लग्न इति ॥ ६ ॥

वात्सल्ये विष्णुकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

अवन्तिदेशे उज्जयिन्यां श्रीवर्मा राजा तस्य बलिर्बृहस्पतिः प्रल्हादो नमुचिश्चेति चत्वारो मंत्रिणः । तत्रैकदा समस्तश्रुताधारो दिव्यज्ञानी सप्तशतमुनिसमन्वितोऽकम्पनाचार्य आगत्योद्यानके स्थितः । समस्तसंघश्च वारितः राजादिकेऽप्यायाते केनापि जल्पनं न कर्तव्यमन्यथा समस्तसंघस्य नाशो भविष्यतीति । राज्ञा च धवलगृहास्थितेन पूजा-हस्तं नगरीजनं गच्छन्तं दृष्ट्वा मंत्रिणः पृष्टाः क्वायं लोकोऽकालयात्रायां गच्छतीति । तैरुक्तं क्षपणका बहवो बहिरुद्याने आयातास्तत्रायं जनो याति । वयमपि तान् द्रष्टुं गच्छाम इति भणित्वा राजापि तत्र मंत्रि-समन्वितो गतः । प्रत्येकं सर्वे वन्दिताः । न च केनापि आशीर्वादो दत्तः । दिव्यानुष्ठानेनातिनिस्पृहास्तिष्ठन्तीति संचिन्त्य व्याघुटिते राज्ञि मंत्रिभिर्दुष्टाभिप्रायैरुपहासः कृतः बलीवर्दा एते न किंचिदपि जानन्ति मूर्खा दम्भमौनेन स्थिताः । एवं ब्रुवाणैर्गच्छद्भिरग्रे चर्यां कृत्वा श्रुतसागरमुनिमागच्छन्तमालोक्योक्तं "अयं तरुणबलीवर्दः पूर्णकुक्षिरागच्छति । एतदाकर्ण्य तेन ते राजाग्रेऽनेकान्तवादेन जिताः । अकम्पनाचार्यस्य चागत्य वार्ता कथिता । तेनोक्तं सर्वसंघस्त्वया मारितः । यदि वादस्थाने गत्वा रात्रौ त्वमेकाकी तिष्ठसि तदा संघ-स्य जीवितव्यं तव शुद्धिश्च भवति । ततोऽसौ तत्र गत्वा कायोत्स-

गेण स्थितः। मंत्रिभिश्चातिलज्जितैः क्रुद्धै रात्रौ संघं मारयितुं गच्छ-द्भिस्तमेकं मुनिमालोक्य येन परिभवः कृतः स एव हंतव्यः इति पर्यालोच्य तद्वधार्थं युगपच्चतुर्भिः खड्गा उद्गीर्णाः। कम्पितनगरदे-वतया तथैव ते कीलिताः। प्रभाते तथैव ते सर्वलोकैर्दृष्टाः। रुष्टेन राज्ञा "क्रमागता इति न मारिता गर्दभारोहणादिकं कारयित्वा निर्घाटिताः। अथ कुरुजांगलदेशे हस्तिनागपुरे राजा महापद्मो राज्ञी लक्ष्मीमती पुत्रौ पद्मो विष्णुश्च। स एकदा पद्माय राज्यं दत्त्वा महा-पद्मो विष्णुना सह श्रुतसागरचन्द्राचार्यस्य समीपे मुनिर्जातः। ते च बलिप्रभृतय आगत्य पद्मराजस्य मंत्रिणो जाताः। कुम्भपुरदुर्गे च सिंहबलो राजा दुर्गबलात् पद्ममण्डलस्योपद्रवं करोति। तद्ग्रहणचि-न्तया पद्म दुर्बलमालोक्य बलिनोक्तं किं देव! दौर्बल्ये कारणमिति। कथितं च राज्ञा। तच्छ्रुत्वा आदेशं याचयित्वा तत्र गत्वा बुद्धिमाहा-त्म्येन दुर्गं भङ्क्त्वा सिंहबलं गृहीत्वा व्याघुट्यागतः। तेन पद्म-स्यासौ समर्पितः। देव! सोऽयं सिंहबल इति। तुष्टेन तेनोक्तं वांछितं वरं प्रार्थयेति। बलिनोक्तं यदा प्रार्थयिष्यामि तदा दीयतामिति। अथ कतिपयदिनेषु विहरन्तस्तेऽकम्पनाचार्यादयः सप्तशतयतयस्तत्रा-गताः। पुरक्षोभाद्बलिप्रभृतिस्तान् परिज्ञाय "राजा एतद्भक्तः" इति पर्यालोच्य भयात्तन्मारणार्थं पद्मः पूर्ववरः प्रार्थितः- सप्तदिनान्यस्माकं राज्यं देहीति। ततोऽसौ सप्तदिनानि राज्यं दत्वाऽन्तःपुरे प्रविश्य स्थितः। बलिना च आतापनगिरौ कायोत्सर्गेण स्थितान् मुनीन् वृत्यावेष्ट्य मण्डपं कृत्वा यज्ञः कर्तुमारब्धः। उच्छिष्टसरावच्छागादि-जीवकलेवरैर्धूमैश्च मुनीनां मारणार्थमुपसर्गः कृतः। मुनयश्च द्विविध-

संन्यासेन स्थिताः। अथ मिथिलानगर्यामर्धरात्रे बहिर्विनिर्गतश्रुत-सागरचन्द्राचार्येण आकाशे श्रवणनक्षत्रं कम्पमानमालोक्यावधिज्ञा-नेन (निमित्तशास्त्रज्ञानेन) ज्ञात्वा भणितं—महामुनीनां महानुप-सर्गो वर्तते तच्छ्रुत्वा पुष्पधरनाम्ना विद्याधरक्षुल्लकेन पृष्टं भगवन्! क केषां मुनीनां महानुपसर्गो वर्तते? हस्तिनापुरे अकम्पनाचा-र्यादीनां सप्तशतयतीनामुपसर्गः। कथं नश्यति? धरणिभूषण-गिरौ विष्णुकुमारमुनिर्विक्रियर्द्धिसम्पन्नस्तिष्ठति स नाशयति। एत-दाकर्ण्य तत्समीपे गत्वा क्षुल्लकेन विष्णुकुमारस्य सर्वस्मिन् वृत्तान्ते कथिते मम किं विक्रिया ऋद्धिरस्तीति संचिन्त्य तत्परीक्षार्थं हस्तः प्रसारितः। स गिरिं भित्त्वा दूरे गतः। ततस्तां निर्णीय तत्र गत्वा पद्मराजो भणितः—किं त्वया मुनीनामुपसर्गः कारितः। भवत्कुले केनापीदृश न कृतम्। तेनोक्तं-किं करोमि मया पूर्वमस्य वरो दत्त इति। ततो विष्णुकुमारमुनिना बामनब्राह्मणं कृत्वा दिव्यध्वनिना प्राध्ययनं कृतं। बलिनोक्तं-किं तुभ्यं दीयते। तेनोक्तं—भूमेः पाद-त्रयं देहि। ग्रहिलब्राह्मण! बहुतरमन्यत् प्रार्थयेति वारं वारं लोकैर्भ-ण्यमानोऽपि तावदेव याचते। ततो हस्तोदकादिविधिना भूमिपाद-त्रये दत्ते तेनैकपादो मेरौ दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरगिरौ तृतीयपादेन देवविमानादीनां क्षोभं कृत्वा बलिपृष्ठे तं पादं दत्वा बलिं बद्ध्वा मुनीनामुपसर्गो निवारितः। ततस्ते चत्वारोऽपि मंत्रिणः पद्मस्य भयादागत्य विष्णुकुमारमुनेरकम्पनाचार्यादीनां च पादेषु लग्नाः। ते मंत्रिणः श्रावकाश्च जाता इति ॥ ७ ॥

प्रभावनायां वज्रकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

हस्तिनापुरे बलराजस्य पुरोहितो गरुडस्तत्पुत्रः सोमदत्तः तेन सकलशास्त्राणि पठित्वा अहिच्छत्रपुरे निजमामसुभूतिपार्श्वे गत्वा भणितम् । माम ! मां दुर्मुखराजस्य दर्शयेति । न च गर्वितेन तेन दर्शितः । ततो ग्रहिलो भूत्वा सभायां स्वयमेव तं दृष्ट्वा आशीर्वादं दत्वा सर्वशास्त्रकुशलत्वं प्रकाश्य मन्त्रिपदं लब्धवान् । तं तथाभूतमालोक्य सुभूतिमामो यज्ञदत्तां पुत्रीं परिणेतुं दत्तवान् । एकदा तस्या गुर्विण्याः (गर्भिण्या) वर्षाकाले आम्रफलभक्षणे दोहलको जातः । ततः सोमदत्तेन तान्युद्यानवने अन्वेषयता यत्राम्रवृक्षे सुमित्राचार्यो योगं गृहीतवांस्तं नानाफलैः फलितं दृष्ट्वा तस्मात्तान्यादाय पुरुषहस्ते प्रेषितवान् । स्वयं च धर्मं श्रुत्वा निर्विण्णस्तपो गृहीत्वा आगममधीत्य परिणतो भूत्वा नाभिगिरौ आतपनेन स्थितः । यज्ञदत्ता च पुत्रं प्रसूता नीतम् श्रुत्वा बन्धुसमीपं गता । तस्य शुद्धिं ज्ञात्वा बन्धुभिः सह नाभिगिरिं गत्वा तमातपनस्थमालोक्याऽतिकोपात्तत्पादोपरि बालकं धृत्वा दुर्वचनानि दत्त्वा गृहं गता । अत्र प्रस्तावे दिवाकरदेवनामा विद्याधरोऽमरावतीपुर्याः पुरन्दरनाम्ना लघुभ्रात्रा राज्यान्निर्घाटितः । सकलत्रो मुनिं वन्दितुमायातः । तं बालं गृहीत्वा निजभार्यायाः समर्प्य वज्रकुमार इति नाम कृत्वा गतः । स च वज्रकुमारः कनकनगरे विमलवाहननिजमैथुनिकसमीपे सर्वविद्यापारगो युवा च क्रमेण जातः । अथ गरुडवेगाङ्गवत्योः पुत्री पवनवेगा हेमन्तपर्वते प्रज्ञप्तिं विद्यां महाश्रमेण साधयन्ती पवनाकम्पितबदरीवज्रकंटकेन लोचने विद्धा । ततस्तत्पीडया चलचित्ताया विद्या न सिद्ध्यति । ततो वज्रकुमारेण च तां तथा दृष्ट्वा विज्ञानेन कंटक-

मुद्धृतः। ततः स्थिरचित्तायास्तस्या विद्या सिद्धा। उक्तं च तया भवत्प्रसादेन एषा विद्या सिद्धा त्वमेव मे भर्तेत्युक्त्वा परिणीता। वज्रकुमारेणोक्तं तात! अहं कस्य पुत्र इति सत्यं कथय। तस्मिन् कथिते मे भोजनादौ प्रवृत्तिरिति। ततस्तेन पूर्ववृत्तान्तः सर्वः सत्य एव कथितः। तमाकर्ण्य निजगुरुं द्रष्टुं बन्धुभिः सह मथुरायां क्षत्रियगुहायां गतः। तत्र च सोमदत्तगुरोर्दिवाकरदेवेन वंदनां कृत्वा वृत्तान्तः कथितः। समस्तबन्धून् महता कष्टेन विसृज्य वज्रकुमारो मुनिर्जातः। अत्रान्तरे मथुरायामन्या कथा—राजा पूतिगन्धो राज्ञी उर्विला। सा च सम्यग्दृष्टिरतीव जिनधर्मप्रभावनायां रता। नंदीश्वराष्टदिनानि प्रतिवर्षं जिनेंद्ररथयात्रां या त्रीन् वारान् कारयति। तत्रैव नगर्यां श्रेष्ठी सागरदत्तः श्रेष्ठिनी समुद्रदत्ता पुत्री दरिद्रा। मृते सागरदत्ते दरिद्रा एकदा परगृहे निक्षिप्तसिक्थानि भक्षयन्ती चर्याप्रविष्टेन मुनिद्वयेन दृष्ट्वा। ततो लघुमुनिनोक्तं हा! वराकी महता कष्टेन जीवतीति। तदाकर्ण्य ज्येष्ठमुनिनोक्त अत्रैवास्य राज्ञः (पट्टराज्ञी) वल्लभा भविष्यतीति। भिक्षां भ्रमता धर्मश्रीवंदकेन तद्वचनमाकर्ण्य नान्यथा मुनिभाषितमिति संचिन्त्य स्वविहारे तां नीत्वा मृष्टहारैः पोषिता। एकदा यौवनभरे चैत्रमासे आन्दोलयन्तीं तां राजा दृष्ट्वा अतीव विरहावस्थां गतः। ततो मंत्रिभिस्तां तदर्थं वन्दको याचितः। तेनोक्तं यदि मदीयं धर्मं राजा गृह्णाति तदा ददामीति। तत्सर्वं कृत्वा परिणीता। पट्टमहादेवी तस्य सातिवल्लभा जाता। फाल्गुननन्दीश्वरयात्रायामुर्विलारथयात्रामहारोपं दृष्ट्वा तया भणिता। देव! मदीयो बुद्धरथोऽधुना पुर्यां प्रथमं भ्रमतु। राज्ञा चोक्तमेवं भवत्विति।

तत उर्विला वदति-मदीयो रथो यदि प्रथमं भ्रमति तदाहारे मम प्रवृ-त्तिरन्यथा निवृत्तिरिति प्रतिज्ञां गृहीत्वा क्षत्रियगुहायां सोमदत्ताचार्यपार्श्वे गता । तस्मिन् प्रस्तावे वज्रकुमारमुनेर्वन्दनाभक्त्यर्थमायाता दिवाक-रदेवादयो विद्याधरास्तदीयवृत्तान्तं च श्रुत्वा वज्रकुमारमुनिना ते भणि-ताः। उर्विलायाः प्रतिज्ञारूढाया रथयात्रा कारिता तमतिशयं दृष्ट्वा पूतिमुखा बुद्धदासी अन्ये च जना जिनधर्मरता जाता इति ॥८॥२०॥

विशेष

सम्यग्दर्शन प्रतीति रुचि श्रद्धा श्रद्धान ये पर्यायवाची शब्द सद्दृष्टिके हैं जिसका लक्षण तीसरी कारिकामें बताया है। इसके आठ अंग हैं। अङ्ग शब्दका अर्थ। अवयव है सम्यग्दर्शन अङ्गी है अवयवी है और असंशया आदि उसके अंग हैं।१। अंग पदका अर्थ साधन और कारण भी है। सम्यग्दर्शन साध्य कार्य है और ये असंशया आदि साधन हैं। तथा अङ्गका अर्थ लक्षण-चिन्ह भी है। जिसके सम्यग्दर्शन होता है उसके ये असंशय आदिक चिह्न-अवश्य होते हैं। उनके नाम असंशया १ अनाकाङ्क्षणा २ निर्वि-चिकित्सिता ३ अमूढा ४ उपगूहन ५ स्थितीकरण ६ वात्सल्य ७ प्रभावना ८ जिनका वाच्य स्वरूप लक्षण ग्यारमी कारिकासे अठारमी कारिका तक क्रमसे स्वामी समन्तभद्राचार्यने बड़ी गं-भीरतासे बताया है। इनका विचार चिन्तन और मनन करनेसे अस्मदादि जीवोंके सम्यग्दर्शन प्रकट प्रकाशित होगा अतएव इन आठों अंगोंको धारण करो। प्रकाशित करो।

जो ये सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग बताये हैं उनमें आदिके चार निषेधरूप है। संशय (शङ्का) १ कांक्षा (वांछा) २ विचि-

कित्सा (ग्लानि) ३ मूढ़ता (मूर्खता) मिथ्यातियोंकी प्रशंसा और स्तुति इनका न होना न करना ऐसा बताया है इनके करनेसे सम्यग्दर्शन अतीचार सहित हो जाता है। मूढ़तामें विधर्मी मिथ्या दृष्टियोंकी प्रशंसा करना और प्रत्यक्ष स्तुति करना ये दोनों गर्भित हैं अर्थात् शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव इन पांचों अतीचारोंका कथन आ जाता है। और चार अङ्ग विधेय रूप हैं करणीय हैं ये चारो सधर्मियोंमें किये जाते हैं जो इनको नहीं करता है उसके वह सम्यग्दर्शन कदाचित भी नहीं होता।

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरंगैः प्ररूपितैः किं प्रयोजनं? तद्विकलस्याप्यस्य संसारोच्छेदनसामर्थ्यसंभवादित्याशंक्याह–

उपर्युक्त निश्शङ्कितादि अंगोंवाला ही सम्यग्दर्शन मोक्षका साधक है? यदि समस्त अङ्ग न हों तो क्या वह संसारका नाशक होगा? इसका उत्तर कहते हैं—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं, दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो, निहन्ति विषवेदनाम् २१

दर्शनं कर्तृ। 'जन्मसन्ततिं' संसारप्रबन्धं। 'छेत्तुम्' उच्छेदयितुं 'नालं' न समर्थं। कथंभूतं तत्, 'अङ्गहीनं' अङ्गैर्निःशङ्कितत्वादिस्वरूपैर्हीनं विकलम्। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह–'नहि' इत्यादि सर्पादिदष्टस्य प्रसृतसर्वांगविषवेदनस्य तदपहरणार्थं प्रयुक्तो मंत्रोऽक्षरेणापि न्यूनो हीनो 'नहि' नैव 'निहन्ति'

स्फोटयति विषवेदनाम् । ततः सम्यग्दर्शनस्य संसारोच्छेदसाधनेऽष्टांगोपेतत्वं युक्तमेव ॥ २१ ॥

अन्वयः–अङ्गहीनं दर्शनं जन्मसन्ततिं छेत्तुं न अलं । यथा अक्षरन्यूनः मंत्रः विषवेदनां न हि निहन्ति ॥

निरुक्तिः–अगेन हीनमिति अङ्गहीनम् । जन्मनां संततिः इति जन्मसन्ततिः ताम् । अक्षरेण न्यूनः अक्षरन्यूनः । विषस्य वेदना विषवेदना ताम् विषवेदनाम् ॥

अर्थ–अङ्गहीन सम्यग्दर्शन जन्ममरणकी परम्पराका नाश नहीं कर सक्ता जैसा कि हीन अक्षरवाला मन्त्र विष की वेदनाको दूर नहिं कर सक्ता ।

तस्य संसारोच्छेदसाधनं स्यादिति चेदुच्यते, "त्रिमूढापोढम्" इति । "लोकदेवतापाखण्डिमूढभेदात् त्रीणि मूढानि भवन्ति ।" तत्र लोकमूढं तावद्दर्शयन्नाह—

परिपूर्ण अङ्गवाले सम्यग्दर्शनके होते हुवे भी जबतक मूढ भावना दूर न किया जायगा तबतक वह संसारका नाश नही कर सकता इसीलिये उन तीनों मूढ भावोंका त्याग करना चतुर्थ कारिकामें बताया है । उनका स्वरूप जाने बिना त्याग नहीं बनता इसलिये उनका स्वरूप बताते हुवे प्रथम लोकमूढका लक्षण बताते हैं—

१–सं निरन्तरं तननं संततिः निरवच्छिन्नविस्तृतिः । सं पूर्वक तनु विस्तारे धोः क्तिः "स्त्रियां क्तिः" ३।३।८०। इति क्तिः
२–विदॢ लाभे धोः "ण्यासश्रन्थघट्टिवन्दोऽनः" ३।३।६४ इति भावेस्त्रोलिङ्गे अनः । विद्यते लभ्यते अनुभूयते इति सा वेदना पीड़ा

आपगासागरस्नान-मुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥

'लोकमूढम्' लोकमूढत्वं । किं ? 'आपगासागरस्नानम्' आपगा नदी, सागरः समुद्रः, तत्र श्रेयः साधनाभिप्रायेण यत्स्नानं न पुनः शरीरप्रक्षालनाभिप्रायेण । तथा 'उच्चयः' स्तूपविधानं । केषां ? सिकताश्मनां' सिकता वालुका, अश्मानः पाषाणास्तेषाम् । तथा 'गिरिपातो' भृगुपातादिः । 'अग्निपातश्च' अग्निप्रवेशः । एवमादि सर्वं लोकमूढं 'निगद्यते' प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

अन्वयः—आपगासागरस्नानं लोकमूढं निगद्यते । सिकताश्मनाम् उच्चयः लोकमूढं निगद्यते । गिरिपातः लोकमूढं निगद्यते । च अग्निपातः लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

निरुक्तिः—आपां समूहो यत्र सः आपः, आपे गच्छति सा आपगा । आपगाश्च सागराश्च आपगासागराः । आपगा सागरेषु स्नानम् इति

१—"गमेः खच्खड्डाः" २।२।५८ इति डः स्त्रीत्वे टाप् । २—सगरचक्रिवर्तिनः आज्ञया तत्पुत्रैः सृष्टः आनीत आलवणाब्धि खनितश्चेति सागरः । ३—उत्पूर्वक चञ् चयने धोः "ग्रहवृदृगमश्च—सूरणोऽच" २।३।५३ इति भावे अच् । उत् ऊर्ध्वं चयनम् उच्चयः स्थण्डिलछत्रागाराणां निर्मापनमित्यर्थः । ४—कुर्वतो लोकान् दृष्ट्वा स्वयमविचार्य माहनं मिथ्याचरणमिति लोकमूढम् । ५—गद् व्यक्तायां धोः कर्मणि लट् । ऋषिभिरुच्यते उपासकाध्ययने इति भावः ।

आपगासागरस्नानम् । सिकताश्च अश्मानश्च इति सिकताश्मानः तेषां सिकताश्मनाम् । गिरेः पातः गिरिपातः । अग्नौ पातः इति अग्निपातः । लोकस्य मूढं लोकैः सह मूढो वा लोकमूढः ।

अर्थ-नदी समुद्रमें स्नान करना लोकमूढता है और चूने पत्थरोंके चबूतरे बनानेमें धर्म समझना लोकमूढता है । पर्वतसे गिरना अग्निमें जलना धर्म जानकर सो सब लोकमूढता है ।

देवतामूढं व्याख्यातुमाह—

अब देवमूढताका स्वरूप वर्णन करते हैं ।

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसाः । देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

'देवतामूढम्' 'उच्यते' 'यदुपासीत' आराधयेत । काः 'देवताः' । कथंभूताः, 'रागद्वेषमलीमसाः' रागद्वेषाभ्यां मलीमसा मलिनाः । किं विशिष्टः ? 'आशावान्' ऐहिकफलाभिलाषी । कया । 'वरोपलिप्सया' वरस्य वाञ्छितफलस्य, उपलिप्सया प्राप्तुमिच्छया । नन्वेवं श्रावकादीनां शासनदेवतापूजाविधानादिकं सम्यग्दर्शनम्लाननताहेतुः प्राप्नोतीति चेत् एवमेतत् यदि वरोपलिप्सया कुर्यात् । यदा तु सम्यक्देवतात्वेन तासां तत्करोति तदा न तन्म्लानताहेतुः । तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्षपाताद्वरमयाचितमपि ताः प्रयच्छन्त्येव । तदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्निर्विघ्नतो झटिति न सिद्ध्यति

न हि चक्रवर्तिपरिवाराऽपूजने सेवकानां चक्रवर्तिनः सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ॥ २३ ॥

अन्वयः–तत् देवतामूढम् उच्यते । तत् किम् ? यत् आशावान् पुरुषः वरोपलिप्सया देवता उपासीत । कथं भूता देवताः ? रागद्वेषमलीमसाः ॥

निरुक्तिः–वरस्य इष्टस्य उपलिप्सा (उपलब्धुमिच्छा) वरोपलिप्सा तया । आशा विद्यते यस्य सः आशावान् । मल विद्यते येषु ते मलीमसाः । रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ । रागद्वेषाभ्यां मलीमसाः इति रागद्वेषमलीमसाः । देव एव देवता[3] ॥

अर्थ–उस हेतुको देवतामूढ कहते हैं जिससे आशावान् पुरुष इष्टवस्तुके प्राप्त होनेकी इच्छासे देवताओंकी सेवा करता है । कैसे हैं वे देवता जो रागद्वेषसे मलीन हैं ।

इदानीं सद्दर्शनस्वरूपे पाषण्डिमूढस्वरूपं दर्शयन्नाह:–

तीसरी पाखण्डिमूढताका लक्षण बताते हैं–

सग्रन्थारम्भहिंसानां, संसारावर्त्तवर्तिनाम् ।
पाषण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ।२४

१–मलादीमसश्च ।४।१।७२ इति ईमसः त्यः । मला दोषा विद्यन्ते यासां ताः मलीमसाः । मलीनाः मलयुक्ताः इत्यर्थः ।

२–उत्पूर्वक डुलभष् प्राप्तौ धोः सनंतात् "त्यात्" २।३।१६ इति अत्यः स्त्रियाम् टाप् ।

३–होत्रादेवोषधेश्छतलढञ् ४।२।४६ स्वार्थ तल् ।

पाषण्डिमोहनं ज्ञेयं ज्ञातव्यं। कोऽसौ ? 'पुरस्कारः।' प्रशंसा। केषां ? 'पाषण्डिनां' मिथ्यादृष्टिलिंगिनां। किं विशिष्टानां। ? 'सग्रन्थारम्भहिंसानाम्' ग्रन्थाश्च दासीदासादयः, आरंभाश्च कृष्यादयः हिंसाश्च अनेकविधाः प्राणिवधाः सह ताभिर्वर्तन्त इत्येवं ये तेषाम्। तथा 'संसारावर्तवर्तिनां' संसारे आवर्तो भ्रमणं येभ्यो विवाहादिकर्मभ्यस्तेषु वर्तते इत्येवं शीलास्तेषाम्। एतैस्त्रिभिर्मूढैरपोढत्वसम्पन्नम् सम्यग्दर्शनं संसारोच्छित्तिकारणम् अस्मयत्वसम्पन्नवत् ॥ २४ ॥

अन्वयः–पाखण्डिनां पुरस्कारः पाखण्डिमोहनम् ज्ञेयम् कथंभूतानां पाखण्डिनाम् ? सग्रन्थारंभहिंसानाम् पुनः संसारावर्तवर्तिनाम् ॥

निरुक्तिः–पाखण्डः विद्यते येषां ते पाखण्डिनः[२] तेषां पाखण्डिनाम्। ग्रन्थश्च आरम्भश्च हिंसा च इति ग्रन्थारम्भहिंसाः। ताभिः सहिताः सग्रन्थारम्भहिंसाः[३] तेषाम्। संसारे आवर्ता इति संसारवार्ताः तेषु वर्तन्ते[४] वर्तयन्तेइत्यवं शीलाः ते संसारावर्तवर्तिनः तेषाम् ॥ २४ ॥

१–पाखण्डिनामुपदेशेन संगत्या च मोहनं मिथ्यात्वमिति पाखण्डिमोहनम् गुरुमूढतेत्यर्थः। पाखण्ड पाषण्ड उभौ शुद्धौ।

२–अतोऽनकाचः ।४।१७८। अथवा "द्वन्द्वरुग्गर्ह्यात् प्राणिन्यस्वाङ्गात्" ४।१।८८ इत्यनेन च गर्ह्यात् पाखण्डशब्दात् (कपट वेशार्थकात्) इन् मत्वर्थे। ३–"चार्थे द्वन्द्वः" १।३।१६ द्वन्द्वसः "पुनः तेनसहेति तुल्ययोगे" १।३।१५। बसः। ४–वृतुङ् वर्तने धोः कर्तरि हेतुकर्तरि वा "शीलेऽजातौणिन्" । २।२।७८ इति णिन्।

अर्थ-पाखण्डियोंका-कुवेशियोंका सत्कार करना सो पाखण्डिमोहन है। कैसे हैं वे? परिग्रहसहित आरम्भ सहित और हिंसा सहित हैं इसीसे वे संसारचक्रमें पड़े हुये हैं और पाडनेवाले हैं ॥

कः पुनरयं स्मयः कति प्रकारश्चेत्याह—

जिस प्रकार मूढ भावोंके त्याग करनेसे अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, उसी प्रकार स्मयोंके (मदोंके) त्याग करनेसे उसमें निर्मलता बढती है, ऐसा ज्ञात करानेके लिये स्मयका लक्षण और उसके भेद बताते हैं।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमाहुर्गतस्मयाः २५

'आहु'र्ब्रुवन्ति। कं? 'स्मयं'। के ते? 'गतस्मयाः नष्टमदाः जिनाः। किं तत्? 'मानित्वं'। किं कृत्वा? 'अष्टावाश्रित्य'। तथा हि। ज्ञानमाश्रित्य ज्ञानमदो भवति। ननु शिल्पमदस्य नवमस्य प्रसक्तेरष्टाविति संख्यानुत्पन्नाः इत्यप्ययुक्तं तस्य ज्ञाने एवान्तर्भावात्॥ २५ ॥

अन्वय-अष्टौ[1] आश्रित्य[2] यत् मानित्वं भवति तत् गमस्मयाः

१-अष्टौ-अष्टन् जस् अत्र "अष्ट औश्" ५।१।१६

२-आङ् पूर्वक श्रिञ् सेवायां धोः क्त्वा "ण्यस्तिवाक्से क्त्वः" ५।१।३१ इति ण्यः आदेशः

स्मयम् आहुः। किं तत् अष्टौ ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलम् ऋद्धिं तपः वपुः ॥

निरुक्तिः--गताः स्मयाः येषां ते गतस्मयाः, मानं विद्यते यस्य सः मानी। मानिनो भावो मानित्वम्।

अर्थ — आठोंके आश्रयसे जो अभिमान करना, उसको मदरहित आचार्योंने मद कहा है। कोनेसे वे आठ। ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि (सम्पदा) तप शरीर ॥ २५ ॥

१–आहुः ब्रुवन्ति। "ब्रुव आहश्च" २।४।७२ इत्यनेन ब्रूञ व्यक्तायां वाचि धोः आह आदेशः झेः उसादेशश्च।

२–शास्त्रज्ञान शिल्पविज्ञान, १ राजमान्यता प्रजामान्यता २ वीर्य-सन्ततिः कुलम्। ३ जायते उत्पद्यते यस्यां सा जातिः ज्ञातिरित्यपि पाठः न्याति देशभाषायाम्। जैसे "छन्याति महाजन" "बारहन्याति ब्राह्मण" इत्यादि वाक्य मारवाड़ मेवाड मालवा आदिमें बोले जाते हैं ४। मानसिकशक्ति वचनशक्ति कायशक्ति ५ धन संपदा राज्य विभूतिका होना ६। अनेक उपवासादि करनेकी योग्यता ७ शरीरकी सुन्दरता शापकी शक्ति ८ ये ज्ञानादिक आठों ही पदार्थ उत्तम हैं पुण्योदयसे मिलते हैं यदि इनका आश्रय कर दूसरोंको नीचा दिखावे सो मद–स्मय दोष है। जैसे विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोः विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।

अनेनाष्टविधमदेन चेष्टमानस्य दोषं दर्शयन्नाह—

उस मदके करनेसे जो दोष होते हैं उनको बताते हैं।

स्मयेन योऽन्यानत्येति, धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं, न धर्मो धार्मिकैर्विना।२६

'स्मयेन' उक्तप्रकारेण 'गर्वितोशयो' दर्पितचित्तः यो जीवः। 'धर्मस्थान्' रत्नत्रयोपेतानन्यान्। 'अत्येति' अवधीरयति अवज्ञयाऽतिक्रामतीत्यर्थः। 'सोऽत्येति' अवधीरयति। कं? 'धर्मं' रत्नत्रयं। कथंभूतम्? 'आत्मीयं' जिनपतिप्रणीतम्। यतो धर्मो 'धार्मिकैः' रत्नत्रयानुष्ठायिभिर्विना न विद्यते॥ २६॥

अन्वय—यः गर्विताशयः सन् अन्यान् धर्मस्थान् अत्येति स आत्मीयं धर्मम् अत्येति। धार्मिकैः विना धर्मो न भवति॥ २६॥

निरुक्तिः—धर्मे तिष्ठन्तीति धर्मस्थाः तान् धर्मस्थान्। गर्वितः आशयः यस्याऽसौ गर्विताशयः। आत्मनोऽयं आत्मीयः तम्। धर्मो विद्यते येषां ते धार्मिकाः तैः। अत्येति अति+एति (इणगतौ) तिरस्करोति।

१—"गर्व दर्पे" "गर्व माने" आभ्यां कतराभ्यां धुभ्यां क्तः त्यः इडागमश्च। गर्व्यते स्मेति गर्वितः दृप्तः। आङ् पूर्वक शिङ् धोः ध्युग्रहवृद्वृगम्वसृरणोऽच् २।३।५४ अनेन अच्। आशयः अभिप्रायः।

२—आत्मन् शब्दात् दोः छः ३।२।१२५ छत्यः। ३—धार्मिकैः। अत्र "विना तिस्रः" ।१।४।४८ अनेन सम्बन्धे तृतीया विहिता। अथवा धर्मः शीलोयेषांति धार्मिकाः। शीलम् ३।३।२१६ इति ठण् न धर्मो धार्मिकैर्विना इति वाक्ये हेतुत्वम् अतएव हेतुरलंकारः।

अर्थ—जो मदान्ध (अहंकारका आश्रम) होता हुवा अन्य धर्मात्मा चारित्रवान सज्जनोंका तिरस्कार (अव-धारणा—अवहेलना) करता है वह अपने ही धर्मका तिरस्कार करता है। क्योंकि धार्मिक सज्जनोंके विना कहीं अन्यत्र तो धर्म रहता ही नहीं। जब उनका तिर-स्कार किया गया तो क्या धर्मका तिरस्कार नहीं हुआ?

ननु कुलैश्वर्यादिसन्पन्नैः स्मयं कथं निषेदुधुं शक्य इत्याह—

यदि उत्तम जाति विशेष ज्ञान विज्ञान आदि प्राप्त हैं वे दर्शन मोहनीयके क्षय आदि करनेवालेके हैं या उदयवालेके हैं। यदि क्षयक उपशमक अथवा उभय भावके हैं तो क्या इतनी ही विभूतिसे संतुष्ट हो? साम्राज्य लक्ष्मी समवसरण लक्ष्मी निर्वाण लक्ष्मीकी आवश्यकता नहीं समझते? यदि समझते हो तो इस क्षण-स्थायीस्वरूप संपदासे क्या लाभ; यदि कर्मोदय जनित समझते हो तो यह कितनी देर रहेगी इससे इस सम्पत्ति कर क्या लाभ है ऐसा समझकर धार्मिक पुरुषोंका तिरस्कार करना उचित नहीं हैं। ऐसा बताते हैं—

यदि पापनिरोधोऽन्य-सम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्य-न्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।

पापं ज्ञानावरणाद्यशुभं कर्म निरुद्ध्यते येनासौ 'पापनिरोधो' रत्नत्रयसद्भावः स यद्यस्ति तदा 'अन्यसम्पदा' अन्यस्य कुलैश्वर्यादेः सम्पदा सम्पत्त्या किं प्रयोजनं, तन्निरोधेतोऽप्यधिकाया विशिष्ट-

तरादेतत्सम्पदः सद्भावमवबुद्धयमानस्य तन्निबन्धनस्मयस्यानुत्पत्तेः । 'अथ पापास्रवोऽस्ति' पापस्याशुभकर्मणः आश्रवो मिथ्यात्वाविरत्यादिरस्ति किं प्रयोजनं अग्रे दुर्गतिगमनादिकम् अवबुद्धयमानस्य तत्सम्पदा प्रयोजनाभावस्ततत्स्मयस्य कर्तुमनुचितत्वात् ।। २७ ।।

अन्वयः—यदि पापनिरोधः अस्ति तर्हि अन्यसंपदा किं प्रयोजनम् । अथ पापास्रवः अस्ति तर्हि अन्यसंपदा किं प्रयोजनम् ।।

निरुक्तिः--पापस्य निरोधः इति पापनिरोधः । अन्या च सम्पद् इति अन्यसम्पद् तया अन्यसम्पदा । पापस्य आश्रवः इति पापाश्रवः । प्रकर्षेण युज्यतेऽनेन योजनमात्रं वा प्रयोजनम् ।

अर्थ—जो पापका (मिथ्यात्वका) निरोध होता है तब अन्य विभूतिसे क्या मतलब ? अगर जो पापका (मिथ्यात्वका) आश्रव (बन्ध) हो रहा है तब भी उस पर विभूतिके रहनेसे क्या फायदा है कुछ भी नहीं ॥

यदि मिथ्यात्वका उदय नष्ट हो गया है और वह वर्तमानमें म्लेच्छ है (या पशु भी है) तो भी वह उत्तम है कि इस पर्याय छोड़ने पर सातिशय इन्द्रादिक पदको पावेगा ही इसलिये ऐसे धार्मिक पुरुषोंका तिरस्कार करना उचित नहीं है ऐसा बताते हैं ।

१–सम्पूर्वक पद् धोः "संपदादिभ्य क्विप् क्तिः" २।३।६१ इति भावे क्विप् त्यः । सम्पद् विभूतिः । पुण्यकर्मबन्ध इत्यर्थः

२–आश्रवणम् आश्रवः आङ् पूर्वक श्रु धोः "ऋदृग्रहवृदृ-गम्वसृरणोऽच्" २।३।५४ इत्यच् । पाति रक्षति धर्मादिति पापम् औणादिक पत्यः । दर्शनमोहनीयम् । तस्य निरोधः संवरः ।

अमुमेवार्थं प्रदर्शयन्नाह—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥ ८॥

'देवम्' आराध्यं। 'विदु' र्मन्यन्ते। के ते? 'देवाः' "देवा वि तस्स णमंति जस्स धम्मे सया मणो" इत्यभिधानात्। कमपि? मातङ्गदेहजमपि' चांडालमपि। कथंभूतं? 'सम्यग्दर्शनसम्पन्नम्' सम्यग्दर्शनेन सम्पन्नं युक्तं। अतएव 'भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्' भस्मना गूढः प्रच्छादितः स चासावङ्गारश्च तस्य अन्तरं मध्यं तत्रैव ओजः प्रकाशो निर्मलता यस्य ॥ २८॥

अन्वयः–देवाः मातङ्गदेहजम् अपि देवं विदुः। कथंभूतं मातङ्गदेहजम्। सम्यग्दर्शनसंपन्नं पुनः कथंभूतं मातंगदेहजम्? भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥

निरुक्तिः-सम्यग्दर्शनेन संपन्नः इति सम्यग्दर्शनसम्पन्नः तम्। देहात् जायते इति देहजः तनुजः मातंगस्य देहजः इति मातंग देहजः तम्। भस्मनाः गूढः इति भस्मगूढः। भस्मगूढश्चासौ अङ्गारः भस्मगूढांगारः अंतर्भवं आंतरम्। भस्म गूढांगारवत् आन्तरम् ओजो यस्य सः भस्मगूढांगारान्तरौजाः तं भस्म गूढांगारान्तरौजसम् ॥

अर्थ – गणधर देव मातंगके पुत्रको भी देव कहते हैं यदि वह सम्यग्दर्शनसे युक्त है और वह भस्मसे ढके हुए अंगारेके समान अतरंगमें है ओज जिसके, ऐसा है।

भावार्थ—यहांपर उपमा उपमेय भावसे कहा है। भस्म (राख) के समान तो उस मातङ्गका शरीर है जोकि चाण्डाली और चाण्डालके रजवीर्यसे बना है इससे अनुत्तम है। अङ्गार (अग्नि) के समान जीव है। ओजके समान सम्यग्दर्शन है। इससे उत्तम है। इस प्रकार यह मातंग पुत्र सम्यग्दृष्टि होने पर भी भस्ममें गढे हुए जाज्वल्यमान अग्निके समान है। जबतक वह राखमें से नहीं निकलता तबतक उसका प्रकाश कार्यकारी नहीं होता। उसी प्रकार चाण्डाल पुत्रका सम्यग्दृष्टि जीव जबतक उस चाण्डाल शरीरमें रहेगा तबतक उसके चारित्र नहीं हो सकता। किंतु वह एक दो भवमें अवश्य चारित्रवान होगा इसलिये उसको द्रव्यनिक्षेपमें देव कहा है।

एकस्य धर्मस्य विविधं फलं प्रकाश्येदानीमुभयोर्धर्माधर्मयोर्यथाक्रमं फलं दर्शयन्नाह—

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका क्रमसे पृथक् पृथक् फल बताते हैं।

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा, जायतेधर्म किल्बिषात्
कापि नाम भवेदन्या, सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ।२९

'श्वापि' कुक्कुरोऽपि 'देवो' जायते। 'देवोऽपि' देवः 'श्वा' जायते कस्मात्? 'धर्मकिल्बिषात्' धर्ममाहात्म्यात् खलु श्वापि देवो भवति। किल्विषात् पापोदयात् पुनर्देवोऽपि श्वा भवति। एवं ततः 'कापि' वाचामगोचरा 'नाम' स्फुटं 'अन्या' न पूर्वा द्वितीया वा

'सम्पद्' विभूतिविशेषो भवेत् कस्मात्? धर्मात्। केषां? 'शरीरिणां' संसारिणां यत एवं ततो धर्म एव प्रेक्षावतानुष्ठातव्यः।२९।

अन्वयः--धर्मकिल्विषात् श्वापि देवो जायते देवोपि श्वा जायते नाम शरीरिणाम् कापि अन्या सम्पत् धर्माद् भवेत्॥

निरुक्तिः--धर्मश्च किल्विषश्च अनयोः समाहारः धर्मकिल्विषम् तस्मात्। शरीराणि विद्यन्ते येषां ते शरीरिणः तेषाम् नाम इत्यव्ययं

अर्थ—धर्मसे कुत्ता भी देव हो जाता है। तथा पापसे (मिथ्यात्वसे) देव भी कुत्ता हो जाता है सो भव्य जीव हो! प्राणियोंको कोईक अद्वितीय ऐश्वर्य धर्मसे प्राप्त होता है॥ २९ ॥

१–धर्मः सम्यक्त्वम्।

२–किल्विषो मिथ्यात्वम्।

३–नाम इति अव्ययं "नाम कोपेऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च। संभाव्य कुत्साप्राकाश्यविकल्पेष्वपि दृश्यते।" इति मेदनी॥

प्रश्न–सम्पत्तिका साधक सम्यक्त्व और विपत्तिका साधक मिथ्यात्व है ऐसा समझकर सम्यक्त्वको पूर्णतः प्रकाशित होनेमें बाधा न आवे इसलिये स्मय करनेका निषेध किया है। भावार्थ–उत्तम ज्ञाति ज्ञान आदिके आवेशमें आकर धर्मात्मा पुरुषोंका तिरस्कार (अनादर) करनेसे जो स्मय हो जाता है उससे उसके उपगूहन स्थितीकरण वात्सल्य प्रभावना ये गुण (अंग) नष्ट हो जावेंगे इससे इन मदोंका करना ठीक नहीं है।

तेषानुष्ठिता दर्शनम्लानता मूलतोऽपि न कर्तव्येत्याह-

अमूढ-निर्मद सम्यग्दृष्टि इन मलिनताओंको न करे ऐसा उपदेश करते हैं।

भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०॥

'शुद्धदृष्टयो' निर्मलसम्यक्त्वाः न कुर्युः। कम्? 'प्रणामं' उत्तमांगेनोपनतिम्। 'विनयं चैव' करमुकुलप्रशंसादिलक्षणं। केषां? कुदेवागमलिंगिनाम्। कस्मादपि? 'भयाशास्नेहलोभाच्च' भयं राजादिजनितं, आशा च भाविनोऽर्थस्य प्रत्याकांक्षा, स्नेहश्च मित्रानुरागः, लोभश्च वर्तमानकालेऽर्थप्राप्तिगृद्धिः, भयाशास्नेहलोभं तस्मादपि। चशब्दोऽप्यर्थः ॥ ३० ॥

अन्वय--शुद्धदृष्टयः भयाशास्नेहलोभात् कुदेवागमलिङ्गिनाम् प्रणामं च विनयम् एव न कुर्युः॥

निरुक्तिः--भयश्च-आशा च स्नेहश्च लोभश्च ऐषां समाहारः भयाशास्नेहलोभं तस्मात्। देवश्चआगमश्च लिंगी च इति देवागमलिंगिनः कुत्सिताश्चते देवागमलिंगिन इति कुदेवागमलिंगिनः। तेषाम्। मूढत्रयमदाष्टकेभ्यो मलेभ्यः शुद्धा मृष्टा दृष्टिः येषां ते शुद्धदृष्टयः॥

अर्थ--शुद्ध सम्यग्दृष्टि भयसे आशासे स्नेहसे लोभसे कुदेवोंको कुशास्त्रोंको और कुलिंगियोंको न नमस्कार करै और न विनय (याचना) करै ॥ ३० ॥

ननु मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयरूपत्वात् कस्माद्दर्शनस्यैव प्रथमतः स्वरूपाभिधानं कृतमित्याह-

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक चारित्र रूप मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनको प्रथम क्यों बताया है ! इसका उत्तर कहते हैं ।

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥ ३१ ॥

'दर्शनं' कर्तृ 'उपाश्नुते' प्राप्नोति । कं ? 'साधिमानं' साधुत्वमुत्कृष्टत्वं वा । कस्मात् ? ज्ञानचारित्रात् । यतश्च साधिमानं तस्माद्दर्शनमुपाश्नुते । 'तत्' तस्मात् । 'मोक्षमार्गे' रत्नत्रयात्मके 'दर्शनं कर्णधारं' प्रधानं प्रचक्षते । तथैव हि कर्णधारस्य नौः खेवटकैवर्तकस्याधीना समुद्रपरतीरगमने नावः प्रवृत्तिः । तथा संसारसमुद्रपर्य्यन्तगमने सम्यग्दर्शनकर्णधाराधीना मोक्षमार्गनावः प्रवृत्तिः ॥

अन्वय—दर्शनं साधिमानं ज्ञानचारित्रात् उपाश्नुते । तत् दर्शनं मोक्षमार्गे कर्णधारं प्रचक्षते ।

निरुक्तिः--ज्ञानं च चारित्रं च अनयोः समाहारः ज्ञानचारित्रम् तस्मात् । साधोः भावः साधिमा तम् साधिमानम् ॥ मोक्षस्य-

१-अशूङ् व्याप्तौ इति श्नु विकरणस्य उप पूर्वस्य धेः धोः लटि रूपम् । २ प्रपूर्वोक्त प्रक्षीङ् व्यक्तायां वाचि धोः लटि अन्यपुरुस्य व हुवचने "द्नेनतः" ५।१।२ इति भस्य अद् । प्रचक्षते कथयन्ति । द्वि कर्मकत्वम् । ३-"पृथ्वादेर्वेमन्"।३।४।१३१ इति भावे इमन् त्यः। "कालाध्व भाव देशं वाऽकर्म धीनाम्" १।२।१४४ इति भाव आधारे कर्मसंज्ञा पुनः "कर्मणीप्" १।४।१ इति इप् विभक्तौ । प्रथमं तावत् साधुतायांव्याप्नोति दर्शनमित्यर्थः ।

मार्गः मोक्षमार्गः तस्मिन्। करणम् (असाधारणकारणं) चरति शोषयति इति कर्णधारः तम् कर्णधारम्॥

अथ--सम्यग्दर्शन साधुतामें समीचीनतामें ज्ञान चारित्रसे पहिले ही व्याप्त हो जाता है। इसीसे उस सम्यग्दर्शनको आचार्य मोक्षमार्गमें कर्णधार कहते हैं॥३१॥

ननु चास्योत्कृष्टत्वे सिद्धे कर्णधारत्वं सिद्ध्यति तच्च कुतः सिद्धमित्याह —

सम्यग्दर्शनके उत्कृष्ट होनेपर वह कर्णधार हो सकता है इसलिये उसमें उत्कृष्टता बताते हैं।

विद्यावृत्तस्य संभूति-स्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसतिसम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥३२॥

'सम्यक्त्वेऽसति' अविद्यमाने। 'न सन्ति'। के ते? संभूति-स्थितिवृद्धिफलोदयाः। कस्य? विद्यावृत्तस्य। अयमर्थ:—विद्याया मतिज्ञानादिरूपायाः वृत्तस्य च सामायिकादिचारित्रस्य या संभूतिः प्रादुर्भावः, स्थितिर्यथावत्पदार्थपरिच्छेदकत्वेन कर्मनिर्जरादिहेतुत्वेन चावस्थानं, वृद्धिरुत्पन्नस्य परतर उत्कर्षः। फलोदयो देवादिपूजायाः स्वर्गापवर्गादेश्च फलस्योत्पत्तिः। कस्याभावे कस्येव ते न स्युरित्याह- **बीजाभावे तरोरिव** बीजस्य मूलकारणस्याभावे यथा तरो-

१-अत्र करण पदे रकाराग्र वर्तिनः अकारस्य खं निपातनात्। कर्मणि द्वितीया।

भो न सन्ति तथा सम्यक्त्वस्यापि मूलकारणभूतस्याभावे विद्यावृत्तस्यापि ते न सन्तीति ॥ ३२ ॥

अन्वयः—यथा वीजाभावे तरोः संभूति स्थिति वृद्धि फलोदयाः न सन्ति तथा सम्यक्त्वे असति विद्यावृत्तस्य संभूति स्थितिवृद्धि फलोदयाः न संति ॥

निरुक्ति :—विद्या च वृत्तं च अनयोः समाहारः विद्यावृत्तं तस्य। संभूतिश्च स्थितिश्च वृद्धिश्च फलोदयश्च इति संभूति स्थिति-वृद्धि फलोदयाः। न सन् इति असन् तस्मिन् असति। वीजस्य-अभावः वीजाभावः तस्मिन्।

अर्थ—जिसप्रकार वीजका अभाव होनेपर वृक्षकी उत्पत्ति स्थिति बढना तथा फलका प्राप्त होना नहीं होता उसी प्रकार सम्यक्त्वके न होनेपर ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति स्थिति वृद्धि तथा फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥३२॥

यतश्च सम्यग्दर्शनसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तदसम्पन्नान्मुनेरुत्कृष्टस्ततोऽपि सम्यग्दर्शनमेवोत्कृष्टमित्याह —

सम्यग्दर्शन नहीं है और गृहत्यागी हैं तो भी वे उत्तम नहीं है "इसलिये सम्यग्दर्शन प्रधान है" ऐसा बताते हैं।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥

'निर्मोहो' दर्शनप्रतिबन्धकमोहनीयकर्मरहितः सद्दर्शनपरिणत इत्यर्थः। इत्थं भूतो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो भवति 'अनगारो' यतिः

पुनः 'नैव' मोक्षमार्गस्थो नहि भवति। किं विशिष्टः? 'मोहवान्' दर्शनमोहोपेतः। मिथ्यात्वपरिणत इत्यर्थः। यत एवं ततो गृहस्थो यो निर्मोहः स 'श्रेयान्' उत्कृष्टः। कस्मात्? मुनेः। कथंभूतात्? 'मोहिनो' दर्शनमोहयुक्तात् ॥ ३३ ॥

अन्वयः–निर्मोहो गृहस्थः मोक्षमार्गस्थः भवति, मोहवान् अनगारः मोक्षमार्गस्थः नैव भवति, अतः मोहिनो मुनेः निर्मोहो गृही श्रेयान् ॥

निरुक्तिः—गृहे तिष्ठति इति गृहस्थः। मोक्षस्य मार्गः इति मोक्षमार्गः। तस्मिन् तिष्ठति इति मोक्षमार्गस्थः। निर्गतः मोहो यस्यासौ निर्मोहः। मोहो विद्यते यस्यासौ मोहवान्। नास्ति त्यक्तः अगारः यस्य येन वा अनगारः। गृहं विद्यते यस्यासौ गृही। अतिशयेन प्रशस्य इति श्रेयान् श्रेष्ठः। मनुते जानाति इति मुनिः।

अर्थ—निर्मोही गृहस्थ मोक्षमार्गमें है, किन्तु मिथ्यात्वी साधु मोक्षमार्गमें नहीं है। इसलिये मिथ्यात्वी साधुसे निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

यत एवं ततः—

इसलिये सम्यग्दर्शन सर्वत्र सर्वदा हितकारी ही है और मिथ्यात्व दुःखदायी है ऐसा बताते हैं।

१–अत्र दर्शनमोहनीयः मिथ्यात्वादित्रितयं मोहपदेन गृह्यते। "मभोऽङ्क्ष्यो मतोर्वोऽपवादिभ्यः" ५।३।४६ इति मस्य वकारः।

२–"गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू" ४।१।१६३। पुनः "प्रशस्यस्य श्रः" ४।१।१६४। आभ्याम् ईयस्-प्रादेशश्च।

न सम्यक्त्वसमं, किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभृताम् ॥

'तनूभृतां' संसारिणां। 'सम्यक्त्वसमं' सम्यक्त्वेन समं तुल्यं। 'श्रेयः' श्रेष्ठमुत्तमोपकारकं। 'किंचित्' अन्यवस्तु नास्ति। यतस्तस्मिन् सति गृहस्थोऽपि यतेरप्युत्कृष्टतां प्रतिपद्यते। कदा तन्नास्ति 'त्रैकाल्ये' अतीतानागतवर्तमानकालत्रये। तस्मिन् क तन्नास्ति? 'त्रिजगत्यपि' आस्तां तावन्नियतक्षेत्रादौ तन्नास्ति अपि तु त्रिजगत्यपि त्रिभुवनेऽपि तथा 'अश्रेयो' अनुपकारकं। मिथ्यात्वसमं किञ्चिदन्यन्नास्ति। यतस्तत्सद्भावे यतिरपि व्रतसंयमसम्पन्नो गृहस्थादपि तद्विपरीततां तदपकृष्टतां व्रजतीति ॥ ३४ ॥

अन्वयः-तनूभृतां सम्यक्त्वसमं त्रैकाल्ये अपि त्रिजगति अन्यत् किञ्चित् श्रेयः न। अथ तनूभृतां मिथ्यात्वसमं त्रैकाल्ये अपि त्रिजगति अन्यत् किञ्चित् अश्रेयो न ॥

निरुक्तिः-सम्यक्त्वेन समं सम्यक्त्वसमं। त्रयश्च कालाः त्रिकालाः त्रिकाला एव त्रैकाल्यं तस्मिन्। त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत् तस्मिन्। अतिशयेन प्रशस्य इति श्रेयः। तनूं बिभ्रति इति तनूभृतः तेषाम् ॥

---

(१) भेषजादिभ्यष्ट्यण् ४।२।२८ इति स्वार्थे ट्यण्।

२-कायो देहः क्लीवपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः। इत्यमरे दीर्घ ऊकारान्तोपि तनू शब्दः। भृञ् भरणे इति धोः क्विप्। पिति कृति तुक्। ४।३।६७ इति तुगागमश्च। शरीरधारिणः।

अर्थ-शरीरधारियोंको सम्यक्त्वके समान तीनों काल-में और तीनों लोकोंमें अन्य कोई भी सुखकारक नहीं है। तथा प्राणियोंको मिथ्यात्वके समान तीनों कालोंमें और तीनों लोकोंमें दुखदेनेवाला दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ३४ ॥

इतोपि सद्दर्शनमेव ज्ञानचारित्राभ्यामुत्कृष्टमित्याह—

सम्यग्दृष्टि हो जानेपर जीव नारकत्व आदि कर्मोंका बन्ध नहीं करता इससे भी यह उत्तम है, ऐसा बताते हैं-

आर्याछन्दः ॥

सम्यग्दर्शनशुद्धा, नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि। दुष्कुलविकृताल्पायु, र्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्य-व्रतिकाः ॥ ३५ ॥

'सम्यग्दर्शनशुद्धाः' सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते। सम्य-ग्दर्शनलाभात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय अन्ये 'न व्रजन्ति' न प्राप्नु-वन्ति। कानि। नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि त्वशब्दः प्रत्येकमभि-सम्बध्यते नारकत्वं तिर्यक्त्वं नपुंसकत्वं स्त्रीत्वमिति। न केवलमेतान्येव न व्रजन्ति किन्तु 'दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च' अत्रापि ताशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ये निर्मलसम्यक्त्वाः ते न भवान्तरे "दुष्कुलतां" दुष्कुले उत्पत्तिं विकृततां काणकुण्ठादिरूपविकारम् अल्पायुष्कताम्, मन्तर्मुहूर्ताद्यायुष्कोत्पत्तिं, दरिद्रतां दारिद्र्योपेतकुलोत्पत्तिम्। कथंभूता अपि एतत्सर्वं न व्रजन्ति 'अव्रतिका अपि' अणुव्रतरहिता अपि।

अन्वयः–अव्रतिकाः अपि सम्यग्दर्शनशुद्धाः नारक तिर्यङ् नपुं-

सकस्त्रीत्वानि च दुष्कुलविकृताल्पायुःदरिद्रतां न व्रजन्ति॥ ३५ ॥

निरुक्तिः—सम्यग्दर्शनेन शुद्धाः सम्यग्दर्शनशुद्धाः अथवा सम्यग्दर्शनं शुद्धं येषां ते सम्यग्दर्शनशुद्धाः। नारकश्च तिर्यङ् च नपुंसकं च स्त्री च इति नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रियः, तेषां भावा इति नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि। दुष्टं च यत् कुलं दुष्कुलं। अल्पं आयुः यस्य सः अल्पायुः। दुष्कुलश्च विकृतश्च अल्पायुश्च दरिद्रश्च इति दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्राः। तेषां भावः दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रता। तां। न सन्ति व्रतानि येषां ते अव्रतिकाः। न सन्ति व्रतिनः इति अव्रतिका वा। व्रतिनस्तु सातिशयं पुण्यं बध्नन्ति।

अर्थ—जो व्रती नहीं हैं और सम्यक् दर्शन करके शुद्ध हैं (सहित हैं) वे नरकगतिको, तिर्यञ्चगतिको, नपुंसकपनेको स्त्रीपनेको, दुष्कुलको, रोगको, अल्पायुको और दरिद्रताको नहीं प्राप्त होते हैं और न इनका बन्ध करते हैं।

यद्येतत्सर्वं न व्रजन्ति तर्हि भवान्तरे कीदृशास्ते भवन्तीत्याह—

सम्यग्दृष्टि नारकादि पर्यायोंको न बांधता है न पाता है तो कैसी पर्यायोंको पाता है? इसका उत्तर बताते हैं—

ओजस्तेजोविद्या-
वीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।

१—नास्ति रं—सुखं यत्र स नरकः "शेषाद्वा" ४।२।१६४ इति कप्। नरके घर्मादौ जातः इति नारकः "तत्र जातः" ३।३।१ इत्यण् २—तिरो अञ्चतीति तिर्यङ्। "तिरसः तिर्य्ये" ४।३।१५८ इति तिरस् शब्दस्य तिरि आदेशः।

माहाकुला: महार्था
मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूता: ॥३६॥

'दर्शनपूता' दर्शनेन पूता: पवित्रिता: दर्शनं वा पूतं पवित्रं येषां ते भवन्ति 'मानवतिलका:' मानवानां मनुष्याणां तिलका मण्डनीभूता मनुष्यप्रधाना इत्यर्थ: । पुनरपि कथंभूता इत्याह 'ओज' इत्यादि ओज उत्साह:, तेज: प्रताप: कान्तिर्वा, विद्या सहजा आहार्या च बुद्धि:, वीर्यं विशिष्टं सामर्थ्यं, यशो विशिष्टा ख्याति:, वृद्धि: कलत्रपौत्रादिसम्पत्ति:, विजय: परविभवेनात्मनो गुणोत्कर्ष:, विभवो धनधान्यद्रव्यादिसम्पत्ति:, एतै: सनाथा: सहिता: । तथा 'माहाकुला' महच्च कुलं च तत्र भवा: । महार्था' महान्तोऽर्था धर्मार्थकाममोक्षलक्षणा येषाम् ॥ ३६ ॥

अन्वय:— दर्शनपूता: मानवतिलका: भवन्ति । कथंभूता मानवतिलका: । ओजस्तेजो विद्या वीर्य यशोवृद्धि विजय विभवसनाथा:, पुन: माहाकुला:, पुनरपि महार्था: ॥

निरुक्ति:-ओजश्च तेजश्च विद्या च वीर्यश्च यशश्च वृद्धिश्च विजयश्च विभवश्च इति ओजस्तेजो विद्यावीर्ययशो वृद्धि विजय विभवा: तेषां सनाथा: इति ओजस्तेजो विद्या वीर्य यशो वृद्धि विजय विभव

ओजश्च तेजश्च विद्या च वीर्यञ्च यशश्चेति ओजस्तेजो विद्या वीर्य यशांसि । तेषां वृद्धिरिति ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशो वृद्धि: । सा च विजयश्च विभवश्चेति ओजस्तेजोविद्या-वीर्ययशोवृद्धिविजयविभवा: । तेषां सनाथा: स्वामिन: इति ।

सनाथाः । महच्च यत्कुलं महाकुलं तत्र भवाः, वा महत् कुलं यस्य सः महाकुलः तस्य अपत्यानि माहाकुलाः । महान्तः अर्थाः येषां ते महार्थाः, श्रेष्ठा मानवा मानवतिलकाः । दर्शनेन पूताः ते दर्शनपूताः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे पवित्र ऐसे प्राणी (मर कर) मनुष्योंमें तिलकके समान श्रेष्ठ (राजा) होते हैं । जोकि ओजस्वी (साहसी) तेजस्वी विद्वान बलवान् यशस्वी (कीर्तिमान्) पुत्र पौत्रवाले विजयी धनवान् तथा उत्तम कुलमें होता है जन्म जिनका और चारों पुरुषार्थोंके साधक ऐसे होते हैं ॥३६॥

तथाइन्द्रपदमपि सम्यग्दर्शनशुद्धा एव प्राप्नुवन्तीत्याह—

तथा देवेन्द्र पद को सम्यग्दृष्टि ही पाता है, ऐसा बताते हैं ।

अष्टगुणपुष्टितुष्टा, दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि, चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥ ३७ ॥

देवदेवीनां सभायाम् । 'चिरं' बहुतरं कालं । 'रमन्ते' क्रीडन्ति । कथंभूताः ? 'अष्टगुणपुष्टितुष्टाः' अष्टगुणा अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वं, वशित्वं कामरूपित्व-

२-अत्र महाकुलाद्ञ्खञ् ३।१।१४४। इति अञ् त्यः । हृस्य-क्ष्वादेः ५।२।५ इति आदुयाऽकारस्य ऐप् । महाकुला इति पाठे तु एकादशमात्रावत्त्वात् छन्दोदोषः (गाथा छन्दके प्रथम और द्वितीय पादमें बारह हो मात्रा होता हैं ।) ३ प्रशंसोक्त्या ।१।३।५६ इति षसः

मित्येतल्लक्षणास्ते च पुष्टिः स्वशरीरावयवानां सर्वदोपचितत्वं तेषां वा पुष्टिः परिपूर्णत्वं तया तुष्टाः सर्वदा प्रमुदिताः। तथा 'प्रकृष्टशोभा-जुष्टा' इतरदेवेभ्यः प्रकृष्टा उत्तमा शोभा तया जुष्टा सेविताः सेवा-जुष्टा सेविताः इन्द्राः सन्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अन्वयः-जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे अमराप्सरसां परिषदि अष्टगुण-पुष्टितुष्टाः, सन्तश्च प्रकृष्ट शोभाजुष्टाः सन्तः चिरं रमंते। कथंभूताः जिनेन्द्रभक्ताः। दृष्टिविशिष्टाः।

निरुक्तिः-जयन्ति कर्मशत्रून् इति जिनाः। जिनेषु इन्द्रः जिनेन्द्राः। वा जिनानां इन्द्राः जिनेन्द्राः। जिनेन्द्राणां भक्ताः इति जिनेन्द्रभक्ताः। अमराश्च अप्सराश्च अमराप्सरसः तेषाम् अष्ट-गुणानां पुष्टिः इति अष्टगुणपुष्टिः। तया तुष्टाः इति अष्टगुणपु-ष्टितुष्टाः। प्रकृष्टा चासौ शोभा च इति प्रकृष्टशोभा। प्रकृष्टशोभया जुष्टाः ते प्रकृष्टशोभाजुष्टाः। दृष्ट्या विशिष्टाः ते दृष्टिविशिष्टाः।

अर्थ—कर्मरूपी शत्रुको जीतकर जो सम्यक्त्वादि गुणों कर सहित हो सो जिन, तिनमें इन्द्र-श्रेष्ठ हो सो जिनेन्द्र तिनकी भक्ति सेवा पूजा करनेवाले स्वर्गमें देवोंकी तथा देवांगनाओंकी सभामें आठ गुणों (जो कि अणिमा-महिमा-गरिमा-लघिमा-प्राकाम्य प्राप्ति ईशित्व वशित्व कामरूपित्व) की पुष्टि (शरीरका सतत एकसा रहना)से प्रमुदित होते हुवे और प्रकृष्ट है शोभा जिनकी ऐसे होते हुवे बहुत काल तक रमण (आनन्द) करते हैं। कैसे हैं वे जिनेन्द्रभक्त जोकि सम्यग्दर्शनसे सहित हैं।

१—जुष प्रीतिसेवनयो रिति धोः क्तः त्यः।

तथा चक्रवर्तित्वमपि त एव प्राप्नुवन्तीत्याह—
तथा सम्यग्दृष्टि ही चक्रवर्ती-पदको पाता है, ऐसा आचार्य कहते हैं-

नवनिधिसप्तद्वयर-
त्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्त्तयितुं प्रभवन्ति,
स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥ ३८॥

ये 'स्पष्टदृशो' निर्मलसम्यक्त्वाः त एव 'चक्रं' चक्रस्य रत्नं 'वर्तयितुं' आत्माधीनतया तत्साध्यनिखिलकार्येषु प्रवर्तयितु 'प्रभवन्ति' ते समर्था भवन्ति । कथंभूताः ? सर्वभूमिपतयः सर्वा चासौ भूमिश्च षट्खण्डपृथ्वी तस्याः पतयः चक्रवर्तिनः । पुनरपि कथंभूताः ? 'नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः' नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि सप्तानां द्वयं तेन संख्यातानि रत्नानि चतुर्दश तेषामधीशाः स्वामिनः । ''क्षत्रमौलिशेखरचरणाः' क्षताद्दोषात् त्रायन्ते रक्षन्ति प्राणिनो ये ते क्षत्रा राजानस्तेषां मौलयो मुकुटाः तेषु आपीठा शेखरा तानि चरणेषु येषाम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः--स्पष्टदृशः सर्वभूमिपतयः सन्तः चक्रं वर्तयितुं प्रभवन्ति । कथभूताः ? सर्वभूमिपतयः नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः । पुनः, सर्वभूमिपतयः । पुनरपि क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥

निरुक्तिः--स्पष्टा दृशः येषां ते स्पष्टदृशः, सर्वा-चासौ भूमिश्च सर्वभूमिः । सर्वभूम्याः पतयः इति सर्वभूमिपतयः । सप्तानां द्वयानि इति सप्तद्वयानि । सप्तद्वयानि च यानि रत्नानि इति सप्तद्वयरत्नानि ।

नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि च इति नवनिधिसप्तद्वयरत्नानि। तेषाम् अधीशाः इति नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः। क्षत्राणाम् मौलय इति क्षत्रमौलयः, तेषां शेखराणि इति क्षत्रमौलिशेखराणि। तानि चरणेषु येषां ते क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥३८॥

अर्थः-प्रकट है सम्यग्दर्शन जिनके ऐसे प्राणी सर्व भूमिके (समस्त भरतक्षेत्रके छह खंडके) स्वामी होते हुवे चक्रके (आज्ञाके) प्रवर्तानेके लिये समर्थ होते हैं, कैसे हैं वे चक्रवर्ति राजा? नवनिधि और चौदह रत्नोंके स्वामी हैं और क्षत्रिय-राजाओंके मुकुटोंके तुर्रे हैं चरणोंमें जिनके ऐसे (बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओंके अधिपति) होते हैं ॥ ३८ ॥

तथा धर्मचक्रिणोऽपि सद्दर्शनमाहात्म्याद्भवन्तीत्याह—

और तीर्थंकर पदकी प्राप्ति सम्यग्दृष्टि ही करता है, इसीको स्पष्ट कहते हैं--

अमरासुरनरपतिभि-
र्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था
वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

'दृष्ट्या' सम्यग्दर्शनमाहात्म्येन। 'वृषचक्रधरा भवन्ति'

१-क्षद्भ्यो दोषेभ्यः त्रायन्ते रक्षन्ति इति क्षत्राः नरेश्वराः मुकुट-बद्धराजानः। क्षत् पूर्वक त्रैङ् पालने धोः 'आतः कोऽह्वावामः' ३।२।३ इति कः।

वृषो धर्मः तस्य चक्रं वृषचक्रं तद्धरन्ति ये ते वृषचक्रधरास्तीर्थंकराः । किं विशिष्टाः ? 'नूतपादाम्भोजाः' पादावेवाम्भोजे, नूते स्तुते पादाम्भोजे येषाम् । कैः ? 'अमरासुरनरपतिभिः' अमरपतयः ऊर्ध्वलोकस्वामिनः सौधर्मादयः, असुरपतयोऽधोलोकस्वामिनो धरणेन्द्रादयः । नरपतयः तिर्यग्लोकस्वामिनश्चक्रवर्तिनः । न केवलमेतैरेव, नूतपादाम्भोजाः, किन्तु 'यमधरपतिभिश्च' यमं व्रतं धरन्ति ये ते यमधरा मुनयस्तेषां पतयो गणधरास्तैश्च । पुनरपि कं भूतास्ते ? सुनिश्चितार्थाः शोभनो निश्चितः परिसमाप्तिं गतोऽर्थो धर्मादि लक्षणो येषाम् । तथा 'लोकशरण्याः' अनेकविधदुःखदायिभिः कर्मारातिभिरुपद्रुतानां लोकानां शरणे साधवः[1] ॥ ३९ ॥

अन्वयः--दृष्ट्या सुनिश्चितार्थाः जीवाः वृषचक्रधराः भवन्ति । कथंभूताः वृषचक्रधराः ? अमरासुरनरपतिभिः च यमधरपतिभिः नूतपादांभोजाः । पुनः कथंभूताः वृषचक्रधराः लोकशरण्याः ॥

निरुक्तिः--अमराश्च असुराश्च नराश्च इति अमरासुरनराः, अमरासुरनराणाम् पतयः इति अमरासुरनरपतयः तैः । यमान् महाव्रतानि धरन्ति पोषयन्ति इति यमधराः । यमधराणां पतयः इति यमधरपतयः तैः । पादौ एव अम्भोजौ पादाम्भोजौ । नूतौ पादाम्भोजौ येषां ते नूतपादाम्भोजाः । सुष्टु प्रकारेण निश्चिताः अर्था यैः ते सुनिश्चितार्थाः । वृषस्य चक्रं धरन्ति इत्येवं शीलाः ते वृषचक्रधराः । लोकेभ्यः शरण्या इति लोकशरण्याः ॥३८॥

---

१ शरणे साधव इति शरण्याः "तत्र साधुः" ३।३।२४६ इति यः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे भूषित जीव धर्मचक्रके चलाने-वाले तीर्थंकर होते हैं, कैसे हैं वे वृषचक्रधर? जो कि देवोंके इन्द्र उनसे, मनुष्योंके पति चक्रवर्ति उनसे, तथा भवन व्यंतर ज्योतिष्क देवोंके इन्द्रोंसे पूजे जाते हैं चरण जिनके ऐसे, तथा लोकोंका शरण भूत हैं (भव्यलोकोंको संसारके दुःखोंसे पार कराने वाले हैं)॥ ३९ ॥

तथा मोक्षप्राप्तिरपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह--

तथा पूर्ण सम्यक्त्व होनेपर ही निर्वाणपद प्राप्त होता है ऐसा बताते हैं--

शिवमजरमरुजमक्षय-
मव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्या-
विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः॥४०॥

'दर्शनशरणाः' दर्शनं शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते 'शिवं' मोक्षं भजन्त्यनुभवन्ति। कथम् 'अजरं' न विद्यते जरा वृद्धत्वं यत्र। अरुजम् न विद्यते रुक् रुजा व्याधिर्यत्र। 'अक्षयं' न विद्यते लब्धानन्तचतुष्टयक्षयो यत्र। 'अव्याबाधं' न विद्यते दुःखकारणेन केनचिद्विविधा विशेषेण वा आबाधा यत्र। 'विशोकभयशंकं' विगता शोकभयशङ्का यत्र। 'काष्ठागतसुखविद्याविभवं' काष्ठां परमप्रकर्षं गतः प्राप्तः सुखविद्ययोर्विभवो विभूतिर्यत्र। विमलं' विगतं मलं द्रव्यभावरूपकर्म यत्र।

अन्वयः--दर्शनशरणाः शिवं भजन्ति। कथंभूतं शिवं ? अजरं अरुजम् अक्षयम् अव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्। काष्ठागत-सुखविद्याविभवम् पुनः विमलम् ॥

निरुक्तिः–दर्शनं शरणं येषां ते दर्शनशरणाः। नास्ति जरा यस्मिन् सः अजरः तम्। नास्ति रुजा यस्मिन् सः अरुजः तम्। नास्ति क्षयः यस्मिन् सः अक्षयः तम्। नास्ति व्याबाधा यस्मिन् सः अव्याबाधः तम्। शोकश्च[1] भयश्च शङ्का च इति शोकभयशङ्काः, विगता शोकभयशंका यस्माद् यस्मिन् वा स विशोकभयशङ्कः तम्। सुखं च विद्या च सुखविद्ये। सुखविद्ययोः विभवः इति सुखविद्या-विभवः। काष्ठागतः सुखविद्याविभवः यस्मिन् स, काष्ठागतसुख-विद्याविभवः, तम्। विगतः मलः यस्मिन् वा यस्मात् स विमलः।

अर्थ–सम्यग्दर्शनका शरण जिन्होंने लिया है ऐसे सम्यक्त्वी जीव मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। कैसा है वह मोक्ष ? जिसमें बुढापा नहीं, रोग नहीं, क्षय नहीं है, जिसमें शोक, भय शंका नहीं है, सीमाके अंतमें पहुंच गया है सुख और ज्ञानका ऐश्वर्य जिसमें, और जिसमें किसी प्रकारका भी मल (दोष) नहीं है ४०॥

यत्प्राक् प्रत्येकं श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्द-र्शनाधिकारस्य समाप्तौ संग्रहवृत्तेनोपसंहृत्य प्रतिपादयन्नाह-

सम्यग्दर्शनका फल इन चारों परमस्थानकी प्राप्ति है, ऐसा बताते हुवे इस सम्यग्दर्शनाधिकारको पूर्ण करते हैं।

१–शुच शोके धोः घञ् 'न्यङ्कादीनाम्' ५।२।६६ अनेन कुत्वम्।

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्
राजेन्द्रचक्र मवनीन्द्रशिरोर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः॥४१

'शिवं' मोक्षम् 'उपैति' प्राप्नोति । कोऽसौ ? 'भव्यः' सम्यग्दृष्टिः । कथंभूतः ? 'जिनभक्तिः' जिने भक्तिर्यस्य । किं कृत्वा ? लब्ध्वा । कं ? 'देवेन्द्रचक्रमहिमानम्' देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां चक्रं संघातस्तत्र तस्य वा महिमानं विभूतिमाहात्म्यम् । कथंभूतम् ? 'अमेयमानम्' अमेयम् अपर्यन्तं मानमस्यामेयमानं (पूजाज्ञानं) वा यस्य । तथा 'राजेन्द्रचक्रं लब्ध्वा' राज्ञामिन्द्राश्चक्रवर्तिनस्तेषां चक्रं चक्ररत्नं । किं विशिष्टं ? अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्' अवन्यां निजनिजपृथिव्याम् इन्द्रा मुकुटबद्धा राजानस्तेषां शिरोभिरर्चनीयम् । तथा धर्मेन्द्रचक्रं लब्ध्वा धर्मस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य चारित्रलक्षणस्य वा इन्द्रा अनुष्ठातारः प्रणेतारो वा तीर्थकरादयस्तेषां चक्रं संघातो धर्मिणां वा तीर्थकृतां सूचकं चक्र धर्मचक्र । कथंभूतम् ? 'अधरीकृतसर्वलोकं' अधरीकृतः भृत्यतां नीतः सर्वलोकस्त्रिभुवनं येन । एतत्सर्वं लब्ध्वा पश्चाच्छिवं चोपैति भव्य इति ॥ ४१ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

अन्वयः- जिनभक्तिभव्यः शिवम् उपैति । किं कृत्वा, अमेयमानम् देवेन्द्रचक्रमहिमानं लब्ध्वा । पुनः किं कृत्वा, अवनीन्द्रशिरोर्चनीयम् राजेन्द्रचक्रं लब्ध्वा । पुनः किं कृत्वा, अधरीकृतसर्वलोकम् धर्मेन्द्रचक्रं लब्ध्वा ।

निरुक्तिः — जिने भक्तिः यस्य सः जिनभक्तिः । भवितुं योग्यः सः भव्यः । देवेन्द्राणां चक्रम् देवेन्द्रचक्रं, देवेन्द्रचक्रस्य महिमा इति देवेन्द्रचक्रमहिमा, तम् । नास्ति मेयं मानम् यस्य सः, तम् । राजेन्द्राणां चक्रं राजेन्द्रचक्रम् । अवनीनाम् इन्द्राः ते अवनीन्द्राः । अवनीन्द्राणां शिरांसि इति अवनीन्द्रशिरांसि । अवनीन्द्रशिरोभिः अर्चनीय इति अवनीन्द्रशिरोर्चनीयः तम् । धर्मेन्द्रस्य चक्रः धर्मेन्द्रचक्रः तम् । अनधरः अधरः क्रियतेस्मेति अधरीकृतः । अधरीकृतः सर्वो लोकः येन सः अधरीकृतसर्वलोकः, तम् ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानकी जो भव्यजीव भक्ति करता है वह मोक्षको पहुंच जाता है। क्या करिके? अमर्यादित देवोंके इन्द्रोंकी विभूतिको भोग करके। और किस विधिसे मोक्षको प्राप्त करता है विद्याधर भूमिगोचरी और म्लेछ खडोंके सर्व भूपतियोंके मस्तक नम्रीभूत हो रहे हैं चरणोंमें जिसके, ऐसे चक्रवर्ती पदवीको भोगकर। और क्या करके मोक्षको प्राप्त करता है? नम्रीभूत कर दिये हैं समस्त लोक जिसने ऐसे तीर्थंकर पदको प्राप्त करके।

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गौरीलालसिद्धांतशास्त्रिणा निरुक्तायां पञ्जिकायां हिन्दीभाषायां च सम्यग्दर्शनवर्णनो नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

ज्ञानाधिकारो द्वितीयः ।

अथ दर्शनरूपं धर्मं व्याख्याय ज्ञानरूपं तं व्याख्यातुमाह–

सम्यक्ज्ञानका लक्षण कहते हैं ।

अन्यूनमनतिरिक्तं,याथातथ्यं विना च विपरीतात्
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

'वेद' वेत्ति ! 'यत्तदाहुर्ब्रुवते । 'ज्ञानं' 'भावश्रुतरूपं'। के ते ? 'आगमिनः' आगमज्ञाः । कथं वेद ? 'निःसन्देहं' निःसंशयं यथा भवति तथा। 'विना च विपरीतात्' विपरीताद्विपर्ययाद्विनैव विपर्ययव्यवच्छेदेनेत्यर्थः । तथा 'अन्यून' परिपूर्णं सकलं वस्तुस्वरूपं यद्वेद 'तद्ज्ञानं' न न्यूनं विकलं तत्स्वरूपं यद्वेद, तर्हि जीवादिवस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथा नित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेत्ति तदधिकार्थवेदित्वा ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह–'अनतिरिक्त' वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तमनधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं न पुनस्तद्वस्त्स्वरूपादधिक कल्पनाशिल्पिकल्पितं यद्वेद । एवं चैतद्विशेषणचतुष्टयसामर्थ्याद्यथाभूतार्थवेदकत्वं तस्य संभवति तद्दर्शयति–याथातथ्यं यथावस्थितवस्तुस्वरूपं यद्वेद तद्ज्ञानं भावश्रुतम् । तद्रूपस्यैव ज्ञानस्य

१–तस्य सम्यग्ज्ञानस्य चत्वारो भेदाः । प्रथमानुयोगः १ करणानुयोगः २ चरणानुयोगः ३ द्रव्यानुयोगश्च ४ तान् क्रमेण लक्षयन्ति स्वामिनः । अत्र शास्त्रे ज्ञानस्य इमे एव भेदाः स्वीकृता न कुमतिज्ञानादयः ।

जीवाद्यशेषार्थानामशेषविशेषतः केवलज्ञानवत् साकल्येन स्वरूप-प्रकाशनसामर्थ्यसम्भवात्। तदुक्तम्–(आप्तमीमांसायां)

स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्त्वप्रकाशने।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १ ॥ इति

अतस्तदेव श्रद्धेयतेनाभिप्रेतम्। तस्यैव मुख्यतो मूलकारणभूततया स्वर्गापवर्गसाधनसामर्थ्यसंभवात् ॥ १ ॥

अन्वयः:--तत् आगमिनः ज्ञानं आहुः, किं तत् यत् अन्यूनम् अनतिरिक्तं विपरीतात् विना, निःसंदेहं च याथातथ्यं वेद ॥

निरुक्तिः:—आगमा विद्यन्ते येषु ते आगमिनः। नास्ति न्यूनं यस्मिन् तत् अन्यूनम्। न अतिरिक्तं यस्मिन् तत् अनतिरिक्तम्। तथा अनतिक्रम्य वर्तते इति यथा तथम्। यथातथम् इत्यस्य भावः इति याथातथ्यम्। निर्गतः संदेहो यस्मात् तत् निःसंदेहम् ॥

१–ब्रूञ् धोः "ब्रुव आहश्च" २।४।९२ अनेन आहादेशः। लपे झेश्च उसादेशः। आहुः ब्रुवन्ति कथयन्तीत्यर्थः। २–वेद इति विदज्ञाने धोः लटि रूपम्। "विदो लटो वा" २।४।७१ इति णश्। वेत्ति जानातीत्यर्थः ३–आगमः श्रुतज्ञानमस्ति येषां ते तथा "मन्मात् स्त्री" ४।१।६६ इति इन्। गणधरा इत्यर्थः। तथा "अतोऽनेकाचः" ४।१।७६ इति च इन्। ज्ञानिनः आगमोपज्ञातारः शास्तार इति यावत्। ४-यो न न्यूनः अभ्यासः स अन्यूनः। "नञ्" १।३।८५ इति सः। "नञोऽन्" ।४।३।२४१ इति नस्य अकारादेशः। ५–न अतिरिक्तः अधिक इति अनतिरिक्तः। अचि ४।३।१४२ इति अनादेशः अतिव्याप्तिरहितः।

अर्थ–उस जाननेको सर्वज्ञ और गणधर देव ज्ञान कहते हैं। कौनसा वह ज्ञान है जो न न्यून हो, न अधिक हो, न विपरीत हो, संदेहसे रहित हो, और यथार्थ स्वरूप हो ॥ ४२ ॥

तस्य विषयभेदाद् भेदं प्ररूपयन्नाह—

प्रथमानुयोगका लक्षण कहते हैं।

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं,बोधति बोधः समीचीनः ॥

'बोधः समीचीनः' सत्यं श्रुतज्ञानं। 'बोधति' जानाति। कं? प्रथमानुयोगं। किं पुनः प्रथमानुयोगशब्देनाभिधीयते इत्याह- 'चरितं पुराणमपि' एकपुरुषाश्रिता कथा चरितं त्रिषष्टिशलाकापुरुषाश्रिता कथा पुराणं तदुभयमपि प्रथमानुयोगशब्दाभिधेयम्। तस्य प्रकल्पितत्वव्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यानं प्रतिपादनं यत्र येन वा तं। तथा पुण्यं प्रथमानुयोगं हि शृण्वतां पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं तदनुयोगं। तथा 'बोधिसमाधिनिधानं' अप्राप्तानां हि सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिर्बोधिः प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापणं समाधिः ध्यानं वा धर्म्म्यशुक्लं च समाधिः तयोर्निधानं तदनुयोगं हि शृण्वतां सद्दर्शनादेः प्राप्त्यादिकं धर्म्मध्यानादिकं च भवति। **तथा**--

अह उड्ढ तिरिय लोए, दिसि विदिसं जं पमाणियं भणियं।
करणाणिओय सिद्धं, दीवसमुद्दा जिणे गेहा ॥ १ ॥

अन्वयः—समीचीनः बोधः चरितम् अपि पुराणं प्रथमानुयोगं बोधति। कथंभूतं चरितं? कथंभूतं पुराणम्? अर्थाख्यानम्। पुनः पुण्यम्। पुनरपि, बोधिसमाधिनिधानम्, अथवा:, यः समीचीनः बोधः चरितं अपि पुराणं बोधति तं प्रथमानुयोगं कथयन्ति। शेषं पूर्ववत्॥

निरुक्तिः—प्रथमो मुख्यश्चासौ अनुयोगः इति प्रथमानुयोगः तम्। अर्थानाम् आख्यानं यत्र तत् आर्थाख्यानम्। बोधिश्च समाधिश्च इति बोधिसमाधी। तयोः निधानम् इति बोधिसमाधिनिधानम्।

अर्थ—सम्यक्ज्ञान, चरित्रोंको और पुराणोंको प्रथमानुयोग जाने है। कैसे हैं चरित्र और पुराण? चारों पुरुषार्थोंका है आख्यान जिनमें। और कैसे हैं वे दोनों? पुण्य रूप हैं तथा पुण्यका कारण हैं बोधि और समाधिकी खानि हैं। अथवा जो उत्तम ज्ञान चरित्रोंको पुराणशास्त्रोंको जानता है उस भाव ज्ञानको आचार्य प्रथमानुयोग कहते हैं।

१–सम् पूर्वक अञ्च धोः क्विप् "संसहयोः समिसध्रो ४।३।२५७ अनेन सं गेः" समि आदेशः सम्यक् प्रकारः इति समीचीनः। "वाञ्चोऽदिक् स्त्रियाम्" ४।२।१६ इति प्रत्ययः। तस्य च ईन आदेशः। २–धर्म पुरुषार्थ अर्थ पुरुषार्थ काम पुरुषार्थ और मोक्ष पुरुषार्थ इनका और इनके करनेवाले पुरुषोंका कथन–इतिहासका वर्णन। ३–सीताचरित्र, हनुमच्चरित्र, श्रेणिक चरित्र आदिक चरित्र हैं ४–महापुराण आदिपुराण उत्तरपुराण हरिवंशपुराण पद्मपुराण आदिक पुराण हैं

अब करणानुयोगका लक्षण बताते हैं ।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ४४

'तथा' तेन प्रथमानुयोगप्रकारेण । 'मतिर्मननं श्रुतज्ञानं' । अवैति जानाति । कं ? 'करणानुयोगं' लोकालोकविभागं पंचसंग्रहादिलक्षणं । कथंभूतमिव ? 'आदर्शमिव' यथा आदर्शो दर्पणो मुखादेर्यथावत्स्वरूपप्रकाशकस्तथा करणानुयोगोऽपि स्वविषयस्यार्थं प्रकाशकः । 'लोकालोकविभक्तेः' लोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यत्रासौ लोकस्त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमितरज्जुपरिमाणः—तद्विपरीतोऽलोकोऽनन्तमानावच्छिन्नशुद्धाकाशस्वरूपः । तयोर्विभक्तिर्विभागो भेदस्तस्याः आदर्शमिव, तथा 'युगपरिवृत्तेः' युगस्य कालस्योत्सर्पिण्यादेः परिवृत्तिः परावर्तनं तस्या आदर्शमिव, तथा 'चतुर्गतीनां च' नरकतिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणानामादर्शमिव ॥ ४४ ॥

अन्वयः-तथामतिः करणानुयोगं लोकालोकविभक्तेः च युगपरिवृत्तेः च चतुर्गतीनाम् आदर्श इव अवैति । अथवा । तथामतिः लोकालोकविभक्तेः च युगपरिवृत्तेः च चतुर्गतीनाम् आदर्शम् इव अवैति तत् करणानुयोगं कथयन्ति ॥

निरुक्तिः—लोकश्च अलोकश्च लोकालोकौ । लोकालोकयोः विभक्तिः इति लोकालोकविभक्तिः तस्याः । युगस्य परिवृत्तिः तस्याः युगपरिवृत्तेः । चतस्रश्च गतयः इति चतुर्गतयः तासाम् ।

१-यथा वस्तुनः स्वरूपो भवति तथैव मननं मवबोधनमिति तथामतिः सम्यग्ज्ञानमित्यर्थः ।

अर्थ—श्रुतज्ञान, करणानुयोगको लोकअलोकके विभागको तथा युगके परिवर्तनको और चतुर्गतियोंके जानने को दर्पणके समान है ऐसा जानता है। (तथा) जो उत्तम ज्ञान लोकविभागको अलोकविभागको कल्पकालों के परिवर्तनको तथा चारों गतियोंके जाननेको दर्पणके समान है उसको करणानुयोग कहते हैं ॥ ४४ ॥

तथा—तवचारित्त मुणीणं किरियाणं रिद्धि गेहसहियाणं।
उवसग्गं सण्णासं चरणा णिउयं पसंसंति ॥

चरणानुयोगका लक्षण कहते हैं।

गृहमेध्यनगाराणां, चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥

'सम्यग्ज्ञानं' भावश्रुतरूपं। विशेषेण जानाति। कं? चरणानुयोगसमयं चारित्रप्रतिपादकं शास्त्रमाचारादि। कथंभूतं? चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगं चारित्रस्योत्पत्तिश्च वृद्धिश्च रक्षा च तासामङ्गं कारणम् अंगानि कारणानि प्ररूप्यन्ते यत्र। केषां तदङ्गम्? 'गृहमेध्यनगाराणां' गृहमेधिनः श्रावकाः अनगारा मुनयस्तेषाम् ॥

अन्वयः—सम्यग्ज्ञानं चरणानुयोगसमयं गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गं विजानाति। अथवा यत् सम्यग्ज्ञानं गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गं विजानाति तम् चरणानुयोगसमयम् आचार्याः कथयन्ति ॥

इसकी संस्कृत टीकामें कुछ पाठ छूट गया है अनेक पुस्तकों में देखनेपर भी नहीं मिला है।

निरुक्तिः—समीचीनं च यत् ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् गृहमेधिनश्च अनगाराश्च इति गृहमेध्यनगाराः, तेषां गृहमेध्यनगाराणाम्। उत्पत्तिश्च वृद्धिश्च रक्षा च उत्पत्तिवृद्धिरक्षाः। चारित्रस्य उत्पत्तिवृद्धिरक्षाणाम् अंगानि यस्मिन् तत् चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, भावश्रुत चरणानुयोगशास्त्रको गृहस्थके, मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति वृद्धि रक्षाका अंग (कारण) जानता है। अथवा जो भावश्रुत गृहस्थ तथा मुनिराजोंके चारित्रोंकी उत्पत्ति वृद्धि तथा रक्षाके अंगोंको (साधनोंको) जानता है (कहता है) उसको चरणानुयोग शास्त्र कहते हैं ॥ ४५ ॥

द्रव्यानुयोगका लक्षण कहते हैं।

जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च। द्रव्यानुयोगदीपः,श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥

'द्रव्यानुयोगदीपो' द्रव्यानुयोगसिद्धान्तसूत्र तत्त्वार्थसूत्रादिस्वरूपो द्रव्यागमः स एव दीपः स आतनुते' विस्तारयति अशेषावशेषतः प्ररूपयति। के? 'जीवाजीवसुतत्त्वे' उपयोगलक्षणो जीवः तद्विपरीतोऽजीवः। तावेव शोभने अबाधिते तत्त्वे वस्तुस्वरूपे आतनुते। तथा 'पुण्यापुण्ये' सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि हि पुण्य। ततोऽन्यत्कर्माऽपुण्यमुच्यते। ते च मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनाशेषविशेषतो द्रव्यानुयोगदीप आतनुते। तथा 'बन्धमोक्षौ च' मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणहेतुवशादुपार्जितेन कर्मणा सहात्मनः संश्लेषो बन्धः बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तावप्यशे-

षतः द्रव्यानुयोगदीप आतनुते। कथं? "श्रुतविद्यालोकं" श्रुतविद्या भावश्रुतं सैवालोकः प्रकाशो यत्र कर्मणि तद्यथा भवत्येवं जीवादीनि स प्रकाशयतीति ॥ ४६ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितो-पासकाध्ययनटीकायां द्वितीयः परिच्छेदः ॥२॥

अन्वय--द्रव्यानुयोगदीपः जीवाजीवसुतत्वे च पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ श्रुतविद्यालोकं यथा स्यात् तथा आतनुते॥ अथवा यः बोधः जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च श्रुतविद्या-लोकं यथास्यात्तथा आतनुते, स द्रव्यानुयोगदीपः कथ्यते।

निरुक्तिः--द्रव्यानुयोगः एव दीपः इति द्रव्यानुयोगदीपः। जीवश्च अजीवश्च जीवाजीवौ। जीवाजीवौ च सुतत्त्वे इति जीवा-जीवसुतत्त्वे। पुण्यं च अपुण्यं च पुण्यापुण्ये। बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ। श्रुतविद्या एव आलोकः यत्र इति श्रुतविद्यालोकः तम् ॥

अर्थ--द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीवतत्त्वको वा अजीव-तत्त्वको, तथा पुण्य पापको और बन्ध मोक्ष तत्त्वको जिस तरहसे भावश्रुतका विस्तार हो तिस प्रकार जाने है प्रकट करे है विस्तारे है। दूसरा अर्थ--जो ज्ञान जीव अजीव इन उत्तम तत्त्वोंको बन्धमोक्षको और पुण्य पापतत्त्वोंको प्रका-शित करते हैं जाने है वह द्रव्यानुयोग भावश्रुत ज्ञान है।

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गौरीलालसिद्धांतशास्त्रिणा निरुक्तायां पञ्जिकायां हिन्दीभाषायां च सम्यग्ज्ञानवर्णनो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥१॥

सद्वृत्ते गुणव्रताधिकारः तृतीयः।

धर्मका तीसरा अवयव जो सद्वृत्त उसका वर्णन करते हैं—

अथ चरित्ररूपं धर्मं व्याचिख्यासुराह—

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥

'चरणं' हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चरित्रं 'प्रतिपद्यते' स्वीकरोति। कोऽसौ? 'साधु'र्भव्यः। कथंभूतः? अवाप्तसंज्ञानः। कस्मात्? दर्शनलाभात्। तल्लाभोऽपि तस्य कस्मिन् सति सजातः? 'मोहतिमिरापहरणे' मोहो दर्शनमोहः स एव तिमिरं तस्यापहरणे यथासम्भवमुपशमे क्षये क्षयोपशमे वा। अथवा मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे। अयमर्थः—दर्शनमोहापहरणे दर्शनलाभः। तिमिरापहरणे सति दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः भव्यात्मा ज्ञानावरणापगमे हि ज्ञानमुत्पद्यमानं सद्दर्शनप्रसादात् सम्यग्व्यपदेशं लभते, तथाभूतश्चात्मा चारित्रमोहापगमे चरणं प्रतिपद्यते। किमर्थं? 'रागद्वेषनिवृत्त्यै' रागद्वेषनिवृत्तिनिमित्तम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—साधुः चरणं प्रतिपद्यते। कस्यै सिद्ध्यै? रागद्वेषनिवृत्त्यै। कथंभूतः साधुः, मोहतिमिरापहरणे सति दर्शनलाभात् अवाप्तसंज्ञानः।

---

(१) प्रति पूर्वक पदोङ् गतौ धोः कर्तरि लट् "दिवादेः श्यः" २।१।८३ इति श्यः। प्रतिपद्यते, स्वीकरोति।

निरुक्तिः—रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ, रागद्वेषयोः निवृत्तिः इति रागद्वेषनिवृत्तिः, तस्यै । मोह एव तिमिरं मोहतिमिरम् मोहतिमिरस्य अपहरणं मोहतिमिरापहरणं तस्मिन् । दर्शनस्य लाभः दर्शनलाभः तस्मात् । अवाप्तं संज्ञानं यस्य सः अवाप्तसंज्ञानः ॥

अर्थ—भव्य-सत्पुरुष; चारित्रको अंगीकार करते हैं (प्राप्त होते हैं) किसलिये? राग-द्वेषको दूर करनेके लिये। कैसे हैं वे साधु? जिनका मिथ्यात्वरूप अंधकारके दूर होने पर अथवा दर्शनमोहनीय अनन्तानुबंधी स्वरूप चारित्रमोहनीय तथा ज्ञानावरणरूपी तिमिरके क्षयोपशम तथा उपशम और क्षयके होने पर सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे प्राप्त हो गया है सम्यग्ज्ञान जिनको ऐसे हैं।

तस्मिन्निवृत्तावेव हिंसादिनिवृत्तेः संभवादित्याह—

उन राग द्वेषोंके क्षयोपशमादि होने पर हिंसादि पापोंका परित्याग होता है ऐसा बताते हैं।

रागद्वेषनिवृत्ते र्हिंसादिनिवर्त्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः, कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥

२—रञ्जनं रागः । रञ्ज रागे धोः घञ् ततः "घञि भावकरणे" ४।४।२८ इति नकारस्य लम् । ३—मोहः-दर्शनमोहनीयः अनन्तानुबन्धीकषायवेदनीयश्च । तिमिरमिव तिमिरम् ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च तयोरपहरणं क्षयोपशमः यथायोग्यं क्षयः उपशमश्च । तस्मिन् सति ।

हिंसादेः निवर्तना व्यावृतिः कृता भवति । कुतः ? रागद्वेषनिवृत्तेः । अयमत्र तात्पर्यार्थः-- प्रवृत्तरागादिक्षयोपशमादेः हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चरित्रं भवति ततो भाविरागादनिवृत्तेरेव प्रकृष्टप्रकृष्टतरप्रकृष्टतमादि निवर्तते देशसंयतादिगुणस्थाने रागादिहिंसादिनिवृत्तिस्तावद्वर्तते यावन्निःशेषरागादिप्रक्षयः तस्माच्च निःशेषहिंसादिनिवृत्तिलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं परमोत्कृष्टचारित्रं भवतीति । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमर्थान्तरन्यासमाह—अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् अनपेक्षिताऽनभिलषिता अर्थस्य प्रयोजनस्य फलस्य वृत्तिः प्राप्तिर्येन स तथाविधः पुरुषः को न कोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी सेवते नृपतीन् ॥४८॥

अन्वयः-रागद्वेषनिवृत्तेः हिंसादिनिवर्तना कृता भवति अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः नृपतीन् सेवते ? अपि तु न ।

निरुक्तिः-रागद्वेषयोः निवृत्तिः इति रागद्वेषनिवृत्तिः तस्याः रागद्वेषनिवृत्तेः । हिंसा आदौ येषां तानि हिंसादीनि, हिंसादीनाम् निवर्तना इति हिंसादिनिवर्तना । न अपेक्षिता अर्थस्य वृत्तिः यस्य सः अनपेक्षितार्थवृत्तिः । नृणाम् पतयः नृपतयः तान् नृपतीन् ॥४८॥

अर्थ—राग द्वेष दूर हो जानेसे हिंसादिक पाप दूर हो जाते हैं । जिसको धन प्राप्तिकी चाह नहीं है ऐसा कौन

१-नि पूर्वक वृतु वर्तने धोः "हेतुमति" २।१।२६ इति णिच् । तदन्ता धवः २।१। ४ इति "धु" संज्ञा । "ण्यास्विचछ्रन्थि घट्टिवन्दो ऽनः" २।३।९४ इति अनः त्यः । स्त्रीत्वात् "अजाद्यतां टाप्" ३।१।५ इति टाप् निवर्तना व्यावृत्तिः त्याग इत्यर्थः ।

पुरुष है जो राजाओंकी सेवा करता है, कोई भी नहीं करता है। (उसी प्रकार रागद्वेषके न रहनेसे क्या कोई भी प्राणी हिंसादिकोंको करता है ? कोई भी नहीं करता है) ॥४८॥

अत्रापरः प्राह—चरणं प्रतिपद्यत इत्युक्तं तस्य तु लक्षणं नोक्तं तदुच्यतामित्याशङ्क्याह—

जिस चारित्रको स्वीकार करताहै-उस चारित्रका लक्षण बताते हैं-

हिंसानृतचौर्य्येभ्यो, मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ।४९।

चारित्रं भवति । कासौ ? विरतिर्व्यावृत्तिः । केभ्यः ? हिंसानृतचौर्येभ्यः हिंसादीनां स्वरूपकथनं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति । न केवलमेतेभ्य एव विरतिः—अपि तु मैथुनसेवापरिग्रहाभ्याम् । एतेभ्यः कथंभूतेभ्यः ? पापप्रणालिकाभ्यः पापस्य प्रणालिका इव पापप्रणालिका आस्रवणद्वाराणि ताभ्यः । कस्य तेभ्यो विरतिः ? संज्ञस्य सम्यग् जानातीति संज्ञः तस्य हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानवतः ॥ ४९ ॥

अन्वयः-संज्ञस्य हिंसानृतचौर्येभ्यः च मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां विरतिः, चारित्रं भवति । कथंभूतेभ्यः हिंसानृतचौर्येभ्यः ? पापप्रणालिकाभ्यः ॥

निरुक्तिः—हिंसा च अनृतं च चौर्यं च इति हिंसानृतचौर्याणि

१-विरमणं विरतिः "हनुमन्यमरमनम् वनतितनादेर्झ्ञलं झलि" ४।४।३६। अनेन रम् धोः मस्य खम् ।

तेभ्यः हिंसानृतचौर्येभ्यः। मैथुनसेवा च परिग्रहश्च इति मैथुन-सेवापरिग्रहौ ताभ्यां मैथुनसेवापरिग्रहाभ्याम्, पापस्य प्रणालिकाः इति पापप्रणालिकाः ताभ्यः इति पापप्रणालिकाभ्यः। सम्यक् प्रकारेण जानाति इति संज्ञः तस्य संज्ञस्य सम्यग्ज्ञानिनः॥

अर्थ—सम्यक्ज्ञानियोंका जो हिंसा झूठ चोरी मैथुन और परिग्रहसे विराम होना (छूटना) सो चारित्र है। कैसे हैं वे हिंसादिक? पापास्रव हैं, पापकर्मका बंध होनेके लिये प्रणाली हैं—आस्रव हैं॥ ४९॥

तच्चेत्थंभूतं चारित्रं द्विधा भिद्यत इत्याह—

उस चारित्रके भेद कहते हैं—

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्
अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससंगानाम् ।५०।

हिंसादिविरतिलक्षणं यच्चरणं प्राक् प्ररूपितं तत् सकलं विकलं च भवति। तत्र सकलं परिपूर्णं महाव्रतरूपं। केषां तद्भवति? अनगाराणां मुनीनाम्। किंविशिष्टानां सर्वसंगविरतानां? बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितानाम्। विकलमपरिपूर्णम् अणुव्रतरूपम्। केषां तद्भवति? सागाराणां गृहस्थानाम्। कथंभूतानां? ससंगानां सग्रन्थानाम्॥ ५०॥

अन्वयः—तत् चरणं द्विविधं भवति। किं तत् द्विविधम्? सकलं विकलं। तत्र सकलं चरणम् अनगाराणां भवति। कथंभूतानाम् अनगाराणां? सर्वसंगविरतानाम्। तत्र च विकलं चरणं सागाराणां भवति। कथं भूतानां सागाराणां? ससंगानाम्॥

निरुक्तिः—सर्वे च संगाः सर्वसंगाः। सर्वसंगेभ्यः विरताः सर्वसंगविरताः तेषां। नास्ति न विद्यते आगारो येषां ते अनगारा तेषाम्।

अर्थ—वह चारित्र दो प्रकारका होता है एक सकल दूसरा विकल। जिसमें पहिला सकल चारित्र मुनियोंके होता है। कैसे हैं मुनि? जो सर्व संगसे परिग्रहसे रहित हैं। दूसरा विकल चारित्र गृहस्थोंके होता है, कैसे हैं गृहस्थ परिग्रहोंसे युक्त हैं॥ ५०॥

तत्र विकलमेव तावच्चरणं व्याचष्टे—

गृहस्थोंके विकलचरणको कहते हैं–

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम्
पञ्चत्रिचतुर्भेदं, त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम्॥५१॥

गृहिणां सम्बन्धि यत् विकलं चरणं तत् त्रेधा त्रिप्रकारं तिष्ठति भवति। किंविशिष्टं सत्? "अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं सत्" अणुव्रतरूपं गुणव्रतरूपं शिक्षाव्रतरूपं सत्। त्रयमेव तत्प्रत्येकं यथासंख्यं पचत्रिचतुर्भेदमाख्यातं प्रतिपादितं। तथा हि। अणुव्रतं पंचभेदं, गुणव्रतं त्रिभेदं, शिक्षाव्रतं चतुर्भेदमिति॥ ५१॥

अन्वयः—गृहिणां चरणं त्रेधा तिष्ठति, किं तत् त्रेधा अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकम्। तत् त्रयं यथासंख्यं पंच त्रि चतुः भेदम् आख्यातम्॥

त्रिभिः प्रकारैरिति त्रेधा अथवा एकराशिरूपं चरणं त्रीणि क्रियन्ते इति त्रेधा 'एधात् ४।३।४२ इति त्रिधौ विचाले चार्थे एधा त्यः।

निरुक्तिः—गृहाणि विद्यन्ते येषां ते गृहिणः तेषाम्। अणु च-गुणश्च शिक्षा च अणुगुणशिक्षाः अणुगुणशिक्षा (रूपाणि) यानि व्रतानि इति अणुगुणशिक्षाव्रतानि। अणुगुणशिक्षाव्रतानि एव अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकम्। पंच च त्रयश्च चत्वारश्च मेदाः यस्य तत् पंचत्रयचतुर्भेदम्। त्रयो अवयवाः यस्य तत् त्रयम्। संख्यामनतिक्रम्य वर्तते इति यथासंख्यम्॥

अर्थ—गृहस्थोंका चारित्र तीन प्रकारका होता है। (कौनसे वह तीन प्रकार हैं) अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत, ये तीनों क्रमसे पांच तीन और चार प्रकारके हैं।

तत्राणुव्रतस्य तावत्पञ्चभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

अणुव्रतका लक्षण कहते हैं—

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो, व्युपरमणमणुव्रतं भवति।५२।

'अणुव्रतं' विकलव्रतम्। किं तत्? व्युपरमणं व्यावर्तनं यत्। केभ्यः इत्याह प्राणेत्यादि, प्राणानामिन्द्रियादीनामतिपातश्चातिपतनं वियोगकरणं विनाशनं। 'वितथव्याहारश्च' वितथोऽसत्यः-स चासौ व्याहारश्च शब्दः। स्तेयं च चौर्यम्। कामश्च मैथुन। मूर्छा च परिग्रहः। मूर्छ्यते लोभावेशात् परिगृह्यते इति मूर्छा इति व्युत्पत्तेः। तेभ्यः कथंभूतेभ्यः? स्थूलेभ्यः अणुव्रतधारिणो हि सर्वसावद्यविरतेरसंभवात् "स्थूलेभ्य एव" हिंसादिभ्यो व्युपरमणं भवति।

१–छि त्वे: खं वा ३।४।२१२ इति तयङ् त्यस्य तकारनाशः।

स हि त्रसप्राणातिपातान्निवृत्तो न स्थावरप्राणातिपातात् । तथा पापादिभयात् परपीडादिकारणमिति मत्वा स्थूलादसत्यवचनान्निवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथान्यपीडाकरात् । राजादिभयादिना परेण परित्यक्तादप्यदत्तार्थात् स्थूलान्निवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथा उपात्तायाः अनुपत्तायाश्च पराङ्गनायाः पापभयादिना निवृत्तो नान्यथा इति स्थूलरूपाऽब्रह्मनिवृत्तिः । तथा धनधान्यक्षेत्रादेरिच्छावशात् कृतपरिच्छेदा इति स्थूलरूपात् परिग्रहान्निवृत्तिः । कथंभूतेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः ? पापेभ्यः पापास्रवणद्वारेभ्यः ॥ ५२ ॥

अन्वयः— स्थूलेभ्यः प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्छाभ्यः पापेभ्यः व्युपरमणम् अणुव्रतं भवति ॥

निरुक्तिः—प्राणानाम् अतिपातः प्राणातिपातः । वितथश्चासौ व्याहारः वितथव्याहारः । प्राणातिपातश्च वितथव्याहारश्च स्तेयं[1] च कामश्च मूर्छा[2] च इति प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्छाः ताभ्यः तथा । अणु च यत् व्रतम् अणुव्रतम् ॥ ५२ ॥

अर्थ--स्थूल स्वरूप हिंसा असत्य चोरी मैथुनसेवन और परिग्रह (तृष्णा) इन पापोंसे दूर होना त्याग करना सो अणुव्रत है ।

१-स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् "स्तेयार्हन्त्यम्" ३।४।१५३। इति यः नकारलोपश्च । २-मूर्छनं मूर्छा - मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोरिति धोः "सरोहलः" २।३।१०० इति स्त्रियाम् अत्यः पुनः टाप् ।

तत्राद्यव्रतं व्याख्यातुमाह—

अहिंसाणुव्रतका लक्षण बताते हैं—

सङ्कल्पात्कृत कारितमननाद्योगत्रयस्यचरसत्त्वान्
न हिनस्ति यत्तदाहुः,स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ।

'चरसत्त्वान्' त्रसजीवान् 'यन्न हिनस्ति' तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणम् । के ते ? निपुणाः हिंसादिविरतिव्रतविचारदक्षाः । कस्मान्नहिनस्ति ? संकल्पात् संकल्पं हिंसाभिसंध्यमाश्रित्य। कथंभूतात् संकल्पात् ? कृतकारितानुमननात् कृतकारितानुमननरूपात् । कस्य सम्बन्धिनः? योगत्रयस्य मनोवाक्कायत्रयस्य । अत्र कृतवचनं कर्तुः स्वातंत्र्यप्रतिपत्त्यर्थं । कारितानुविधानं परप्रयोगापेक्षमनुवचनम् । (अनु) मननवचनं प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थम् । तथा हि मनसा चरसत्त्वहिंसां स्वयं न करोमि चरसत्त्वान् हिनस्मीति- मनः संकल्पं न करोमीत्यर्थः । मनसा चरसत्त्वहिंसामन्यं न कारयामि । चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति मनसा प्रयोजको न भवामीत्यर्थः २ तथा अन्यं चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तं मनसा नानुमन्ये सुन्दरमनेन कृतमिति मनः संकल्पं न करोमीत्यर्थः ३ एवं वचसा स्वयं चरसत्त्वहिंसां न करोमि चरसत्त्वान् हिनस्मीति स्वयं वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । ४ वचसा चरसत्त्वहिंसां न कारयामि चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः ५ तथा वचसा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्त नानुमन्ये साधुकृतं त्वयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । ६ तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न करोमि चरसत्त्वहिंसने दृष्टिमुष्टिसन्धाने स्वयं काय-

व्यापारं न करोमीत्यर्थः ॥ ७ ॥ तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न कारयामि चरसत्त्वहिंसने कायसंज्ञया परं न प्रेरयामीत्यर्थः ८ तथा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तमन्यं नखच्छोटिकादिना कायेन नानुमन्ये इत्युक्तमहिंसाणुव्रतम् ॥ ९ ॥ ५३ ॥

अन्वयः-तत् निपुणाः स्थूलवधात् विरमणम् आहुः । किं तत् यत् योगत्रयस्य संकल्पात् चरसत्त्वान् न हिनस्ति कथंभूतात् संकल्पात् ? कृतकारितमननात् ॥

निरुक्तिः-कृतं च कारितं च मननं च एषां समाहारः कृतकारितमननं, तस्मात् कृतकारितमननात् । योगानां त्रयं योगत्रयं, तस्य । चराश्च ते सत्त्वाः चरसत्त्वाः तान् । स्थूलश्चासौ वधः स्थूलवधः तस्मात् ॥

१-हिसि हिंसने धोः सतिकाले लट् तिप् ततः "रुधां श्नम्" २।१।६२ इति श्नम्, हिनस्ति हन्ति मारयति वियोजयति ।

२-हननं वधः-हनो हिंसागत्योरिति धोः "घ्नश्च वधः" २।३।६३ अनेन अच् त्यः । हनश्च वधादेशः हिंसेत्यर्थः ।

विशेष-हिंसा चार प्रकारसे होती है, १ संकल्पसे, २ उद्यमसे ३ विरोधसे, ४ आरम्भसे । जीव दो प्रकारके हैं-त्रस १, स्थावर २ इनमेंसे गृहस्थ संकल्पसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है । स्थावर जीवोंकी हिंसाका अभी त्यागी नहीं है तथा उसके शेष तीनों प्रकारकी हिंसाओंका त्याग नहीं है । संकल्पी हिंसा उसको कहते हैं जो देवी देवताओंके लिये मंत्रसिद्धिके लिये, औषधिके लिये खानेके लिये तन्त्र सिद्धिके लिये द्वीन्द्रीय आदि त्रसजीवोंको मारता है मरवाता है अनुमोदना करता है । मनसे वचनसे तथा शरीरसे वह अणुव्रती कदापि नहीं हो सकता किंतु वह अव्रती पापी और दुराचारी कहलाता है ।

अर्थ—उस हेतुको बुद्धिमान् लोग स्थूलवध त्याग कहते हैं (वह कौनसा हेतु ?) जोकि मनवचनकायके संकल्पसे त्रसप्राणियोंका नहिं मारना है। कैसा है वह संकल्प? कृत कारित और अनुमोदना रूप है ॥ ५३ ॥

तस्येदानीमतीचारानाह—

अहिंसाअणुव्रतके अतीचार बताते हैं।

छेदनबन्धनपीडन-मतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च, स्थूलवधाद् व्युपरतेः पञ्च ५४

व्यतीचारा विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषाः। कति? पंच। कस्य? स्थूलवधाद्युपरतेः। कथमित्याह "छेदनेत्यादि" कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदनं। अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बन्धनं। पीडनं पीडा दण्डकशाद्यभिघातः। अतिभारारोपणं न्याय्यभारादधिकभारारोपणं। न केवलमेतच्चतुष्टयमेव किन्तु आहारवारणापि च आहारस्य अन्नपानलक्षणस्य वारणा निषेधो (धारणा) वा निरोधः।

अन्वयः—स्थूलवधाद्व्युपरतेः पंच व्यतीचाराः भवन्ति, के ते पंच? छेदनबन्धनपीडनम् अतिभारारोपणम्, अपि च आहारवारणा।

निरुक्तिः—छेदनं च बंधनं च पीडनं च एषां समाहारः छेदनबन्धनपीडनम्। अतिभारस्य आरोपणम् इति अतिभारारोपणम्। आहारस्य वारणा इति आहारवारणा ॥ ५४ ॥

अर्थ—स्थूलवध त्याग अणुव्रतके ५ पांच अतीचार होते हैं। मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंके शरीरको छेदना, बांधना, पीड़ा देना, अधिक भार लादना (अधिक काम कराना अधिक कर वसूल करना तथा अधिक सजा देना) ॥५४॥

एवमहिंसाणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीमनृतविरत्यणुव्रतं प्रतिपादयन्नाह—

सत्याणुव्रतका लक्षण कहते हैं

स्थूलमलीकं न वदति,
न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ॥
यत्तद्वदन्ति सन्तः,
स्थूलमृषावादवैरमणम् ।५५।

'स्थूलमृषावादवैरमणम्' स्थूलश्चासौ मृषावादश्च तस्माद्वैरमणं विरमणमेव वैरमणं तद्वदन्ति । के ते ? सन्तः सत्पुरुषाः गणधरदेवादयः । तत्किं ? सन्तो यन्न वदन्ति, अलीकमसत्यम् । कथं भूतं ? "स्थूलम्," यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्वधबन्धादिकं राजादिभ्यो भवति तत्स्वयं तावन्न वदति । तथापरानन्यान् तथाविधमलीकं न वादयति । न केवलमलीकं किन्तु सत्यमपि चौरोऽयमित्यादिरूपं न स्वयं वदति न परान् वादयति । किं विशिष्टं यदुक्तं सत्यमपि परस्य विपदेऽपकाराय भवति।

अन्वयः—तत् सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणं[1] वदन्ति । तत् किं ? यत् स्थूलम् अलीकं न वदति[2], न परान् अपि वादयति[3] विपदे सत्यम् अपि न वदति ॥

१–विरमणमेव वैरमणम् स्वार्थेऽण् । २–वद व्यक्तायां वाचि धोः स्वार्थे लट् वदति वक्ति । ३–तस्मादेव हेतुमति ३।१।३६ इति णिच् लट् च । "शब्दे" १।२।४८ अनेन अण्यन्त कर्तरि परे पदे कर्मसंज्ञा ततः "कर्मणोण्" १।४।१ अनेन इप् विभक्तौ । परान् अन्यान् न वादयति न जल्पयति इत्यर्थः ।

निरुक्तिः -स्थूलश्चासौ मृषावादश्च इति स्थूलमृषावादः स्थूलमृषावाद द् वैरमण मिति स्थूलमृषावादवैरमणम् विपदे विपत्त्यर्थम् ॥

अर्थ —उस हेतुको साधु लोग स्थूल मृषावाद त्याग कहते हैं (कौनसा वह हेतु) जो कि न स्वयं स्थूल-झूठ बोले है और न दूसरेको बुलवावे है तथा जिस वचनसे आपत्ति हो जावे ऐसे सत्य वचनको भी नहीं बोले है ५५

साम्प्रत सत्याणुव्रतस्यातीचारानाह--

सत्याणुव्रतके अतीचार कहते हैं —

परिवादरहोभ्याख्या, पैशून्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारिता पि च, व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य।

"परिवादो" मिथ्योपदेशोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमित्यर्थः। "रहोऽभ्याख्या" रहसि एकान्ते स्त्रीपुंसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशनं। "पैशून्यम्" अङ्गविकारभ्रूविक्षेपादिभिः पराभिप्रायं ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनं साकारमन्त्रभेद इत्यर्थः कूटलेखकरणं च अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किञ्चिदेव तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वञ्चनानिमित्तं कूटलेखकरणं कूटलेखक्रियेत्यर्थः। 'न्यासापहारिता' द्रव्यनिक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्यं द्रव्यमाददानस्य एवमेवेत्यभ्युपगमवचनम। एवं परिवादादयश्चत्वारो न्यासापहारिता पञ्चमीति सत्यस्याणुव्रतस्य पञ्च व्यतिक्रमाः अतीचारा भवन्ति ।५६।

४-विपूर्वक पद धातोः "संपदादिभ्यः क्विप् क्तिः।" २।३।६१ अनेन क्विप्। "तादर्थ्ये" १।३।२५ इति अप् विभक्तौ। विपदे परस्यापकाराय दुःखाय इति यावत्।

अन्वयः-सत्यस्य पञ्च व्यतिक्रमाः भवन्ति। के ते पञ्च ? परिवादरहोभ्याख्यापैशून्यं च कूटलेखकरणम्, अपि च न्यासापहारिता ॥ ५६ ॥

निरुक्तिः- परिवादश्च रहोभ्याख्या च पैशून्यं च एषां समाहारः परिवादरहोभ्याख्यापैशून्यं। कूटश्चासौ लेखः कूटलेखः। कूटलेखस्य करणम् कूटलेखकरणं । न्यासस्य अपहारिता इति न्यासापहारिता

अर्थ—सत्य अणुव्रतके पांच अतीचार होते हैं, जोकि परिवाद दूसरोंकी बुराई करना। रहोभ्याख्या-दूसरोंकी गुप्त बातोंको प्रगट करना। पैशून्य-चुगली करना। कूट लेखकरण झूंठे लेख बनाना। न्यासापहारिता-दूसरोंकी धरोहरको हड़प लेना अर्थात् धरोहर रखने वाला अपनी धरोहरको भूलसे कम बतावे तो उसको उतनी ही देना शेषको स्वयं जानता हुवा भी न देना ॥ ५६ ॥

अधुना चौर्यविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह-

अचौर्याणुव्रतका लक्षण कहते

निहितं वा पतितं वा, सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते, तदकृशचौर्यादुपारमणम्॥

१—न्यासं परै निक्षिप्तम् अपहरति इत्येवं शीलः न्यासापहारी णिन् त्यः। तस्य न्यासापहारिणो भावः न्यासापहारिता: "भावे त्व तल्" ३।४।१३६ इति तल् स्त्रीत्वात् टाप्।

अकुशचौर्यात् स्थूलचौर्यात्। उपारमणं तत्। तत् किं ? यत् न हरति न गृह्णाति। किं तत्? परस्वं परद्रव्यं। कथंभूतं ? निहितं (वा) धृतं। तथा पतितं वा। तथा सुविस्मृतं वा अतिशयेन विस्मृतं। वा शब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चये। इत्थंभूतं परस्वम् अविसृष्टम् अदत्तं यत्स्वयं न हरति, न दत्ते ऽन्यस्मै, तदकुशचौर्याद्उपारमणं प्रतिपत्तव्यम्।

अन्वयः–तत् अकुशचौर्यात् उपारमणं भवति? यत् परस्वं न हरति न च अन्यस्मै दत्ते। कथंभूतं परस्वं? निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा अविसृष्टम् ॥ ५७ ॥

निरुक्तिः–परस्य स्वम् परस्वम् परद्रव्यं परधनमित्यर्थः। न विसृष्टम् अविसृष्टं अकुशं च यत् चौर्यं तत् अकुशचौर्यम्, तस्मात्।

अर्थ–उसको स्थूल चोरी त्याग अणुव्रत कहते हैं जो परद्रव्यको न चुरावे है और न उस परद्रव्यको दूसरोंके लिये देवे है। कैसा है वह परद्रव्य? जो कि किसीका रक्खा हुआ पड़ा हुआ भूला हुआ अथवा छोड़ा हुआ हो–किसीने न दिया हो ॥ ५७ ॥

तस्येदानीमतिचारानाह–

१–नि पूर्वक डुधाञ् धारणे धोः "स्त्रियां क्तिः" ३।३।८० इति क्तिः "धाञो हि" ७।४।४२ इति हि आदेशः निहितं स्थापितं न्यस्तमित्यर्थः। २–परश्चासौ स्वः ज्ञातिरिति परस्वः। ज्ञातिवाची स्वशब्दः "पुंसि वर्तते। स्वः स्यात्पुंस्यात्मनि ज्ञातौ त्रिष्वात्मीयेऽस्त्रियां धने" इति मेदिनी। जो दूसरी जाति (ज्ञाति) को हरण करता है वह स्थूल चोरी है।

अचौर्याणुव्रतके अतीचार बताते हैं—

चौरप्रयोगचौरार्था-दानविलोपसदृशसन्मिश्राः।
हीनाधिकविनिमानं, पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ५८

अस्तेये चौर्यविरमणे। व्यतीपाता अतीचाराः पंच भवन्ति। तथा हि। चोरप्रयोगः चोरयतः स्वयमेवान्येन वा प्रेरणं प्रेरितस्य वा अन्येनानुमोदनं। चौरार्थादानं च अप्रेरितेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्यार्थस्य ग्रहणं। विलोपश्च उचितन्यायादन्येन प्रकारेणार्थस्यादानं विरुद्धराज्यातिक्रम इत्यर्थः। विरुद्धराज्ये स्वल्पमूल्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति कृत्वा स्वल्पतरेणार्थेन गृह्णाति। सदृशसन्मिश्रश्च प्रतिरूपकव्यवहार इत्यर्थः। सदृशेन तैलादिना सन्मिश्रं घृतादिकं करोति। कृत्रिमैश्च हिरण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वकं व्यवहारं करोति। हीनाधिकविनिमानं विविधं नियमेन मानं विनिमानं मानोन्मानमित्यर्थः। मानं हि प्रस्थादि, उन्मानं तुलादि, तच्च हीनाधिकं हीनेन अन्यस्मै ददाति अधिकेन स्वयं गृह्णातीति॥ ५८॥

अन्वयः—अस्तेये पञ्च व्यतीपाताः स्मर्तव्याः। के ते पञ्च? चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः च हीनाधिकविनिमानम्।

निरुक्तिः—चौरस्य प्रयोगः इति चौरप्रयोगः। चौरस्य अर्थः चौरार्थः। चौरार्थस्य आदानं चौरार्थादानम्। सदृशैः सन्मिश्रः। सदृशसन्मिश्रः। चौरप्रयोगश्च चौरार्थादानं च विलोपश्च सदृश—

१—स्तेनस्य भावः कृत्यं वा स्तेयम्। "स्तेयाऽर्हन्त्यम्" २।४।१४३ अनेन यत्प्रत्ययः न लोपश्च। नास्ति स्तेयं यस्मिन् स अस्तेयः तस्मिन्

सन्मिश्रश्च इति चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः । हीनं च अधिकं च विनिमानं च यत्र तत् हीनाधिकविनिमानं । विविधं नियतं मानं जातिनियमो राजनियमो व्यापारनियमो देशनियमश्चेति विनिमानम् । नियमोंका अन्यथा अर्थ करना ।

अर्थ —अचौर्याणुव्रतके पांच अतीचार जानना, जो कि चोरी करनेकी प्रेरणा करना, १ चोरोंसे चोरीका द्रव्य लेना २ राजा और जातिके नियमोंको लोपना ३ जिससे धोका दिया जा सके ऐसे समान स्वरूपी पदार्थोंका मिश्रण करना ४ सोनचांदिकके देनेमें तोलनेमें निर्धार करनेमें व्यापार करनेमें नाप तोलके बाटोंमें तथा नियमोंमें हीन (न्यून) अधिक करना ॥ ५ ॥ ५८ ॥

साम्प्रतं ब्रह्मचर्याणुव्रतस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

ब्रह्मचर्याणुव्रतका लक्षण बतलाते हैं—

न तु परदारान् गच्छति,
न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः,
स्वदारसन्तोषनामापि ॥ ५९ ॥

'सा परदारनिवृत्तिः' यत् परदारान् परिगृहीतानपरिगृहीतांश्च स्वयं 'न च' नैव गच्छति । तथा परानन्यान् परदारलम्पटान् न गमयति (परदारेषु गच्छतो यत्प्रयोजयति न च) कुतः ? पाप-

भीतेः पापोपार्जनभयात् न पुनः नृपत्यादिभयात्। न केवलं सा परदारनिवृत्तिरेवोच्यते किन्तु स्वदारसन्तोषनामापि स्वदारेषु सन्तोषः स्वदारसन्तोषस्तन्नाम यस्याः ॥ ५९ ॥

अन्वयः-सा परदारनिवृत्तिः भवति, अपि स्वदारसन्तोषनामा ज्ञातव्या। सा का? यत् पापभीतेः परदारान्[1] न तु गच्छति च परान्[2] न गमयति।

निरुक्तिः-परस्य दाराः परदाराः परदारेभ्यः निवृत्तिः सा परदार निवृत्तिः। स्वस्य दारा स्वदाराः। स्वदारेषु सतोषः इति स्वदारसंतोषः। स्वदारसंतोषः नाम यस्य-इति स्वदारसतोषनामा।

अर्थ-वह परदारनिवृत्ति व्रत जानना। अथवा वह स्वदारसंतोष व्रत जानना (वह कौन) जो भाव पापके भयसे परस्त्रीको नहीं प्राप्त करता न दूसरोंको प्राप्त कराता हो ५९

तस्यातिचारानाह-

ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार कहते हैं।

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः। इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः॥६०॥

'अस्मरस्याब्रह्मनिवृत्त्यणुव्रतस्य' पंच व्यतीचाराः। कथमित्याह

१-स्त्री वाचको पि दार शब्दः पुल्लिङ्गे वर्तते नित्यबहुवचनान्तश्च अत्र गम् धोः चेष्टात्मकमैथुनप्रापणार्थत्वात्म्न अप्। "चेष्टा-गति कर्मण्यप्राप्ते ऽविपौ" १।४।२३ अनेन द्वितीया विभक्तीविहिता

२-परान् अत्र तु "गगम्यद्यर्थार्थशाखेः" १।२।१४७ अनेन अण्यन्तकर्तरि कर्म संज्ञत्वात् द्वितीया।

"अन्येत्यादि" कन्यादानं विवाहः अन्यस्य अन्यविवाहः तस्य आसमन्तात् करणं तच्च अनङ्गक्रीडा च अंगं लिंगं योनिश्च तयोरन्यत्र मुखादि-प्रदेशे क्रीडा अनङ्गक्रीडा। विटत्वं भण्डिमाप्रधानकायवाक्प्रयोगः। विपुलतृट् च कामतीव्राभिनिवेशः। इत्वरिकागमनं परपुरुषानेति गच्छतीत्येवं शीला इत्वरी पुंश्चली। कुत्सायां के कृते इत्वरिका भवति तत्र गमनं चेति॥ ६०॥

अन्वयः असमरस्य पञ्च व्यतीचाराः ज्ञातव्याः। के ते पञ्च? अन्यविवाहाऽऽकरणाऽनङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः च इत्वरिकागमनम्।

निरुक्तिः—न स्मरः स्मराद्विरुद्धो वा असमरः तस्य; अन्यस्य विवाहः अन्यविवाहः, अन्यविवाहस्य आसमन्तात् करणम् अन्य-विवाहाकरणम्। न अङ्गम् अनङ्गम्, अनंगेन क्रीडाकरणमिति अनङ्गक्रीडाकरणम्। अन्यविवाहाऽऽकरणं च अनङ्गक्रीडा च विट-त्वं च विपुलतृट् च इति अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुल-तृषः। परपुरुषम् एति गच्छति सा इत्वरी। कुत्सिता इत्वरी इति इत्वरिका। इत्वरिकायाम् गमनं सेवनमिति इत्वरिकागमनम्॥६०॥

अर्थ-कामत्यागके (परस्त्री त्यागव्रतके) पांच अती-चार जानना, जोकि, दूसरोंका विवाह करना १ अनिश्चित अन्य अगोंसे भोग क्रिया करना २ भंड वचनादिसे कुचेष्टा करना ३ अधिक अधिक तृष्णा करना ४ व्यभिचारिणी स्त्रियोंके साथ सम्बन्ध रखना॥ ६०॥

१-इण् गतौ धोः "श्नण्णशजेष्टस्वरप्" २।२।१५६ अनेन टत्व-रप्त्यः टित्वात् स्त्रियां ङी पुनः "कुत्सिताऽज्ञाताऽल्पे" ४।१।१८० अनेन निन्दायामर्थे कः त्यः टाप्—पूर्वस्य इकारस्य च प्रः।

अथेदानीं परिग्रहविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं दर्शयन्नाह —

परिग्रहाणुव्रतका लक्षण बताते हैं–

धनधान्यादिग्रन्थं,परिमाय ततोऽधिकेषुनिःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ६१

'परिमितपरिग्रहो' देशतः परिग्रहविरतिरणुव्रतं स्यात्। कासौ ? या 'ततोऽधिकेषु' 'निस्पृहता' ततस्तेभ्य इच्छावशात् कृतपरिसंख्यातेभ्यो ऽर्थेभ्योऽधिकेष्वर्थेषु या निस्पृहता वाञ्छा व्यावृत्तिः। किं कृत्वा ? परिमाय' देवगुरुपादाग्रे परिमितं कृत्वा। कम् ? "धनधान्यादिग्रन्थं" धनं गवादि, धान्यं व्रीह्यादि। आदिशब्दाद्दासीदासभार्यागृहक्षेत्रद्रव्यसुवर्णरूप्याभरणवस्त्रादिसंग्रहः। स चासौ ग्रन्थश्च तं परिमाय। स च परिमितपरिग्रहः इच्छापरिमाणनामापि स्यात्, इच्छायाः परिमाणं यस्य स इच्छापरिमाणस्तन्नाम यस्य स तथोक्तः।६१

अन्वयः— धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततः अधिकेषु निस्पृहता परिमितपरिग्रहः स्यात् तथा इच्छा[2] परिमाण नाम अपि कथयंति।

निरुक्तिः — धनं च धान्यं च धनधान्ये, धनधान्ये आदौ यस्मिन् सः धनधान्यादि, धनधान्यादिश्चासौ ग्रन्थश्च इति धनधान्यादिग्रन्थः तम्। निर्गता स्पृहा यस्य स निस्पृहः तस्यः भावः

१–परि पूर्वक मा माने धोः "परकालैक कर्तृकात्" २।४।७ इति क्त्वा, तस्य च 'व्यस्तिवाकृसे क्त्वः" ५।१।३१ अनेन व्यः आदेशः। "न व्ये" ४।३।७२ ईत्वं निषेधः। परिमाय–परिमाणं कृत्वा।

२–मृगयेच्छोटाट्या २।३।१०४। इति इषु धोः शः।

निस्पृहता । परिमितः परिग्रहो यस्मिन् सः परिमितपरिग्रहः ॥६१॥

अर्थ—धनधान्यादि परिग्रहोंका परिमाण करना उससे अधिकमें वांछा न करना सो परिमितपरिग्रहाणुव्रत है । इसका दूसरा नाम इच्छापरिमाण भी है । ६१ ॥

तस्यातिचारानाह —

परिग्रहाणुव्रतके अतीचार कहते हैं ।

अतिवाहनातिसंग्रह-विस्मयलोभातिभारवहनानि परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ६२

'विक्षेपा' अतीचाराः । पंच 'लक्ष्यन्ते' निश्चीयन्ते । कस्य ? "परिमितपरिग्रहस्य" न केवलमहिंसाद्यणुव्रतस्य पंचातीचारा निश्चीयन्ते अपि तु परिमितपरिग्रहस्यापि । चशब्दोऽत्रापिशब्दार्थे । के तस्यातीचारा इत्याह—"अतिवाहनेत्यादि" लोभातिगृद्धिनिवृत्त्यर्थं परिग्रहपरिमाणे कृते पुनर्लोभावेशवशादतिवाहनं करोति, यावन्तं हि मार्गं बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽप्यतिरेकेण वाहनमतिवाहनम् । अतिशब्दः प्रत्येकं लोभान्तानां सम्बध्यते । इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत् संग्रहं करोति । तत्प्रतिपन्नलाभेन विक्रीते तस्मिन् मूलतोऽप्यसंग्रहीते वाधिकेऽर्थे तत्क्रापिकेन लब्धे लोभावेशादतिविस्मयं विषादं करोति । विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यधिकलाभाकाङ्क्षावशादतिलोभं करोति । लोभावेशादधिकभारारोपणमतिभारवहनम् । ते विक्षेपाः पञ्च ॥ ६१ ॥

अन्वयः—परिमितपरिग्रहस्य विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते के ते पञ्च ? अतिवाहनाति संग्रह विस्मय लोभाति भारवहनानि ॥६१॥

निरुक्तिः—अतिवाहनं च अतिसंग्रहश्च विस्मयश्च लोभश्च अति भारवहनं चेति अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि ।

अर्थ—परिमित परिग्रहव्रतके पांच अतीचार निश्चित किये गये हैं (जो कि) हाथी घोड़ा मोटर रथ आदि सवारियोंको प्रमाणमें अधिक रखना अधिक चलाना १ अधिक काल तक संग्रह रखना २ आश्चर्य (विषाद) करना ३ लोभ करना कंजूसी करना ४ अधिक भार लादना ५॥६२॥

एवं प्ररूपितानि पंचाणुव्रतानि निरतीचाराणि किं कुर्वन्तीत्याह—

अणुव्रतोंके धारण करनेका फल बताते हैं ।

पञ्चाणुव्रतनिधयो,निरतिक्रमणाःफलन्ति सुरलोकं
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ।६३।

फलन्ति फलं प्रयच्छन्ति । के ते ? पंचाणुव्रतनिधयः पंचाणुव्रतान्येव निधयो निधानानि । कथंभूताः ? निरतिक्रमणा निरतिचाराः । किं फलन्ति ? सुरलोकम् । यत्र सुरलोके लभ्यन्ते । कानि ? 'अवधि' अवधिज्ञानम् । "अष्टगुणा" अणिमामहिमेत्यादयः । दिव्यशरीरं च सप्तधातुविवर्जितं शरीरं । एतानि सर्वाणि यत्र लभ्यन्ते ॥ ६३ ॥

अन्वयः—पञ्चाणुव्रतनिधयः तं सुरलोकं फलन्ति । किं भूता । पञ्चाणुव्रतनिधयः ? निरतिक्रमणाः । तम् कम् ? यत्र अवधिः अष्टगुणाः च दिव्यशरीरं लभ्यन्ते ॥ ६३ ॥

१–डुलभष प्राप्तौ इति धोः "ङौ" १।२।७ इति दः । "भाव-कर्मो ङि" ।१।१।३१ ङि संज्ञा । गेयक् २।१।८० यक् विकरणः ।

निरुक्तिः—पचाणुव्रतानि एव निधयः पञ्चाणुव्रतनिधयः निर्गता अतिक्रमणा येभ्यः ते निरतिक्रमणाः । दिव्यं च यत् शरीरं च दिव्यशरीरम् वैक्रियिकं देहम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—पांच अणुव्रतरूपी निधियां स्वर्गलोकको प्राप्त करती हैं-फलै हैं। कैसी हैं वह पांच अणुव्रतरूपी निधियां? जो कि अतीचाररहित हैं। वह कोनसा है स्वर्ग लोक? जिसमें अवधिज्ञान और अणिमादि अष्टगुण तथा दिव्य वैक्रियक शरीर मिलता है ॥ ६३ ॥

इह लोके किं कस्याप्यहिंसाद्यणुव्रतानुष्ठानफलप्राप्तिर्दृष्टा येन परलोकार्थं तदनुष्ठीयते इत्याशङ्क्याह—

एक एक भी अणुव्रतके पालन करनेसे जिन्होंने फल प्राप्त किया है उनमेंसे केवल एक एक व्रतीका नाम बताते हैं।

मातङ्गो धनदेवश्च, वारिषेणस्ततः परः ।
नीली जयश्च संप्राप्ताः, पूजातिशयमुत्तमम् ।६४।

हिंसाविरत्यणुव्रतात् मातङ्गेन चाण्डालेन उत्तमः पूजातिशयः प्राप्तः ।

अस्य कथा ।

सुरम्यदेशे पोदनापुरे राजा महाबलः । नन्दीश्वराष्टम्यां राज्ञा अष्टदिनानि जीवाऽमारणघोषणायां कृतायां बलकुमारेण चात्यन्तमांसासक्तेन कंचिदपि पुरुषमपश्यता राजोद्याने राजकीयमेण्ढकः प्रच्छन्नेन मारयित्वा संस्कार्य भक्षितः । राज्ञा च मेण्ढकमारणवार्तामाकर्ण्य रुष्टेन मेण्ढकमारको गवेषयितुं प्रारब्धः । तदुद्यानमालाकारेण च वृक्षोपरिचटितेन स तन्मारणं कुर्वाणो दृष्टः । रात्रौ च

निजभार्यायाः कथितं, ततः प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथितं। प्रभाते मालाकारोऽप्याकारितः। तेनैव पुनः कथितं, मदीयामाज्ञां मम पुत्रः खण्डयतीति रुष्टेन राज्ञा कोट्टपालो भणितो बलकुमारं नवखण्डं कारयेति ततस्तं कुमारं मारणस्थानं नीत्वा मातङ्गमानेतुं ये गताः पुरुषास्तान् विलोक्य मातङ्गेनोक्तं प्रिये! "मातङ्गो ग्रामं गत" इति कथय त्वमेतेषामित्युक्त्वा गृहकोणे प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। तलारैश्चाऽऽकारिते मातङ्गे, कथितं मातंग्या सोऽद्य ग्रामं गतः। भणितं च तलारैः "स पापोऽपुण्यवानद्य ग्रामं गतः? कुमारमारणात्तस्य बहुसुवर्णरत्नादिलाभो भवेत्" तेषां वचनमाकर्ण्य द्रव्यलुब्धया तया मातङ्गभीतया हस्तसंज्ञया स दर्शितो ग्रामं गत इति पुनः पुनर्भणन्त्या। ततस्तैस्तं गृहान्निःसार्य तस्य मारणार्थं स कुमारः समर्पितः। तेनोक्तं "नाद्य चतुर्दशीदिने जीवघातं करोमि" ततस्तलारैः स नीत्वा राज्ञः कथितः। देव! अयं राजकुमारं न मारयति। तेन च राज्ञः कथितं "सर्पदष्टो मृतः श्मशाने निक्षिप्तः सर्वौषधिमुनिशरीरस्य वायुना पुनर्जीवितोऽहं तत्पार्श्वे चतुर्दशीदिवसे मया जीवाऽहिंसाव्रतं गृहीतमतोऽद्य न मारयामि" देवो यज्जानाति तत्करोतु। अस्पृश्यचाण्डालस्य व्रतमिति संचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा द्वावपि गाढं बन्धयित्वा शिशुमारह्रदे निक्षेपितौ। तत्र मातङ्गस्य प्राणात्ययेऽप्यहिंसाव्रतमपरित्यजतो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया जलमध्ये सिंहासनमणिमण्डपिकादुन्दुभिसाधुकारादिप्रातिहार्यादिकं कृतं महाबलराजेन चैतदाकर्ण्य भीतेन पूजयित्वा निजच्छत्रतले स्थापयित्वा स स्पृश्यो विशिष्टः कृत इति प्रथमाणुव्रतस्य ॥ १ ॥

अनृतविरत्यणुव्रताद्धनदेवश्रेष्ठिना पूजातिशयः प्राप्तः। **अस्य कथा**

जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिण्यां पुर्यां वणिजौ जिनदेवधनदेवौ स्वल्पद्रव्यौ। तत्र धनदेवः सत्यवादी द्रव्यस्य लाभं द्वावप्यर्धमर्धं गृहीष्याव इति निःसाक्षिकां व्यवस्थां कृत्वा दूरदेशं गतौ। बहुद्रव्यमुपार्ज्य व्याघुट्य कुशलेन पुण्डरीकिणीमायातौ। तत्र जिनदेवो लाभार्धं धनदेवाय न ददाति स्तोकद्रव्यमौचित्येन ददाति। ततो झकटके न्याये च सति स्वजनमहाजनराजाग्रतो निःसाक्षिकव्यवहारबलाज्जिनदेवो वदति न मयाऽस्य लाभार्धं भणितमुचितमेव भणितम्। धनदेवश्च सत्यमेव वदति द्वयोरर्धमेव। ततो राजनियमात्तयोर्दिव्यं (?) दत्तं, धनदेवः शुद्धो नेतरः ततः सर्वं द्रव्यं धनदेवस्य समर्पितं तथा सर्वैः पूजितः साधुकारिश्चेति द्वितीयाणुव्रतस्य ॥ २ ॥

अचौर्यविरत्यणुव्रताद्वारिषेणेन पूजातिशयः प्राप्तः। अस्य कथा स्थितीकरणगुणव्याख्यानप्रघट्टके कथितेह (३८ तमे पृष्टे) द्रष्टव्येति, तृतीयाणुव्रतस्य ॥ ३ ॥

ततः परं नीली जयश्च। ततस्तेभ्यः परं यथा भवन्त्येवं पूजातिशयं प्राप्ता तत्र ब्रह्मविरत्यणुव्रतान्नीली वणिक्पुत्री पूजातिशयं प्राप्ता। **अस्याः कथा।**

ललाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा वसुपालः वणिग्जिनदत्तो भार्या जिनदत्ता पुत्री नीली अतिशयेन रूपवती। तत्रैवाऽपरः श्रेष्ठी समुद्रदत्तो भार्या सागरदत्ता पुत्रः सागरदत्तः। एकदा महापूजायां वसन्ततौ कायोत्सर्गेण संस्थितां सर्वाभरणविभूषितां नीलीमालोक्य

सागरदत्तेनोक्तं किमेषापि देवता काचिदेतदाकर्ण्य तन्मित्रेण प्रियदत्तेन भणितम्-जिनदत्तश्रेष्ठिन इयं पुत्री नीली । तद्रूपावलोकनादतीवासक्तो भूत्वा कथमियं प्राप्यत इति तत्परिणयनचिन्तया दुर्बलो जातः । समुद्रदत्तेन चैतदाकर्ण्य भणितः—हे पुत्र ! जैनं मुक्त्वा नान्यस्य जिनदत्तो ददातीमां पुत्रिकां परिणेतुम् । ततस्तौ कपटश्रावकौ जातौ परिणीता च सा, ततः पुनस्तौ बुद्धभक्तौ जातौ, नील्याश्च पितृगृहे गमनमपि निषिद्धम्, एवं वंचने जाते भणितं जिनदत्तेन इयं मम न जाता कूपादौ वा पतिता यमेन वा नीता इति । नीली च श्वशुरगृहे भर्तुः वल्लभा भिन्नगृहे जिनधर्ममनुतिष्ठन्ती तिष्ठति । दर्शनात् संसर्गाद् धर्मवचनाकर्णनाद्वा कालेनेयं बुद्धभक्ता भविष्यतीति धर्मदेववचनमाकर्ण्य लोभ्य समुद्रदत्तेन भणिता नीली पुत्री ! ज्ञानिनां वन्दकानामस्मदर्थं भोजनं देहि । ततस्तया वन्दकानामंत्र्याहूय च तेषामेकैका प्राणहितिपिष्टा संस्कार्य तेषामेव भोक्तुं दत्ता । तैर्भोजनं भुक्त्वा गच्छद्भिः पृष्टं-क्व प्राणहिताः ? तयोक्तं भवन्त एव ज्ञानेन जानन्तु "यत्र ताः तिष्ठन्ति" यदि पुनर्ज्ञानं नास्ति तदा वमनं कुर्वन्तु, भवतामुदरे प्राणहितास्तिष्ठन्तीति । एवं वमनं कृतं दृष्टानि प्राणहिताखण्डानि । ततो रुष्टश्च श्वशुरपक्षजनः । ततः सागरदत्तभगिन्या कोपात्तस्या असत्यपरपुरुषदोषोद्भावना कृता । तस्मिन् प्रसिद्धिं गते सा नीली देवाग्रे संगृहीत्वा कायोत्सर्गेण स्थिता 'दोषे उत्तीर्णे भोजनादौ प्रवृत्तिर्मम नान्यथेति' । ततः क्षुभितनगरदेवतया आगत्य रात्रौ सा भणिता । हे महासति ! 'मा प्राणत्यागमेवं कुरु' अहं राज्ञः प्रधानानां पुरजनस्य च स्वप्नं ददामि । लग्ना यथा नगरप्रतोल्यः कीलिता 'महासती-वामचरणेन संस्पृश्य उद्घरिष्यन्तीति ताश्च प्रभाते

भवच्चरणं स्पृष्ट्वा' एवं वा उद्घरिष्यन्तीति 'पादेन प्रतोलीस्पर्शं कुर्या-स्त्वमिति भणित्वा राजादीनां तथा स्वप्नं दर्शयित्वा पत्तनप्रतोलीः कीलित्वा स्थिता सा नगरदेवता। प्रभाते कीलिताः प्रतोलीर्दृष्ट्वा राजादिभिस्तं स्वप्नं स्मृत्वा नगरस्त्रीचरणताडनं प्रतोलीनां कारितं। न चैकापि प्रतोली कयाचिदप्युद्घरिता। सर्वासां पश्चान्नीली तत्रोत्क्षिप्य नीता। तच्चरणस्पर्शात् सर्वा अप्युद्घरिताः प्रतोल्यः, निर्दोषा राजादिपूजिता नीली जाता, चतुर्थाणुव्रतस्य ॥४॥

परिग्रहविरत्यणुव्रताज्जयः पूजातिशयं प्राप्तः। अस्य कथा

कुरुजांगलदेशे हस्तिनागपुरे कुरुवंशे राजा सोमप्रभः पुत्रो जयः परिमितपरिग्रहो भार्यासुलोचनायामेव प्रवृत्तिः। एकदा पूर्वविद्याधर-भवकथनानन्तरं समायातपूर्वजन्मविद्यो हिरण्यवर्मप्रभावती विद्याधर-रूपमादाय च मेर्वादौ वन्दनाभक्तिं कृत्वा कैलासगिरौ भरतप्रतिष्ठापित-चतुर्विंशतिजिनालयान् वन्दितुमायातौ सुलोचनाजयौ। तत्प्रस्तावे च सौधर्मेन्द्रेण जयस्य स्वर्गे परिग्रहपरिमाणव्रतप्रशंसा कृता। तं परिक्षितुं रतिप्रभदेवः समायातः। ततः स्त्रीरूपमादाय चतसृभि र्विलासिनीभिः सह जयसमीपं गत्वा भणितो, जय! सुलोचनास्वयंवरे येन त्वया सह संग्रामः कृतः तस्य नमिविद्याधरपते राज्ञीं सुरूपामभिनवयौ-वनां सर्वविद्याधारिणीं तद्विरक्तचित्तामिच्छ यदि तस्य राज्यमात्म-जीवितं च वाञ्छसीति। एतदाकर्ण्य जयेनोक्तं हे सुन्दरि! मैवं ब्रूहि परस्त्री मम जननीसमानेति। ततस्तया जयस्योपसर्गे महति कृतेऽपि चित्तं न चलितं। ततो मायामुपसंहृत्य पूर्ववृत्तं कथयित्वा प्रशस्य वस्त्रादिभिः पूजयित्वा स्वर्गं गतः। इति पंचाणुव्रतस्य ॥५।६५॥

अन्वयः—मातङ्गः च धनदेवः ततः परः वारिषेणः[1] नीली च जय ऐते क्रमशः पञ्चाणुव्रतप्रभावात् उत्तमं पूजातिशयं संप्राप्ताः[2]।

निरुक्तिः—पूजायाः अतिशयः इति पूजातिशयः तं पूजातिशयम्।

अर्थ—मातंग और धनदेव उसके आगे वारिषेण नीली और जय ये पांचों क्रमसे अणुव्रतके प्रभावसे उत्तम बढ़ती हुई पूजाको प्राप्त हुवे हैं ॥ ६४ ॥

एवं पंचानामहिंसादिव्रतानां प्रत्येकं गुणं प्रतिपाद्येदानीं तद्विपक्षभूतानां हिंसाद्युपेतानां दोषं दर्शयन्नाह—

एक भी पाप करनेसे जिन्होंने दुर्गति पायी है उनमें से एक एकका नाम दिखाते हैं—

धनश्रीसत्यघोषौ च, तापसारक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रु-नवनीतो यथाक्रमम्॥६५

धनश्री श्रेष्ठिन्या हिंसातो बहुप्रकारं दुःखफलमनुभूतं। सत्यघोषपुरोहितेनानृतात्। तापसेन चौर्यात्। आरक्षकेन कोट्टपालेन ब्रह्मणि वृत्त्यभावात्। परिग्रहतृष्णातो लुब्धदत्त श्मश्रुनवनीतेन च। ततोऽव्रतप्रभवदुःखानुभवने उपाख्येया दृष्टान्तत्वेन प्रतिपाद्याः। के ते? धनश्रीसत्यघोषौ च। न केवलं एतौ एव किन्तु तापसारक्षकावपि। तथा तेनैव प्रसिद्धप्रकारेण श्मश्रुनवनीतो वणिक्, यतस्तेनापि परिग्रहनिवृत्त्यभावतो बहुतरदुःखमनुभूतं। यथाक्रमं उक्तक्रमानतिक्रमेण हिंसादिविरत्यभावे एते उपाख्येयाः प्रतिपाद्याः तत्र धनश्री हिंसातो बहुदुःखं प्राप्ता।

१—वारिषेणः अत्र पूर्वपदात् संज्ञायामगः ८।४।३ इति मूर्धन्यषकारादेशः।

२—सं प्राप्ता अत्र श्रिगत्यर्थाच्च ३।४।५५ अनेन कर्तरि क्तः।

अस्याः कथा।

ललाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा लोकपालः। वणिग्धनपालो भार्या धनश्री मनागपि जीववधेऽविरता। तत्पुत्री सुन्दरी पुत्रो गुणपालः। अत्र काले धनश्रिया यः पुत्रबुद्धया कुण्डलो नाम बालकः पोषितः, धनपाले मृते तेन सह धनश्रीः कुकर्मरता जाता गुणपाले च गुणदोषपरिज्ञानके जाते धनश्रिया तच्छङ्कितया भणितः प्रसरे गोधनं चारयितुमटव्यां गुणपालं प्रेषयामि लग्नस्त्वं तत्र मारय येनावयोर्निरंकुशमवस्थानं भवतीति ब्रुवाणां मातरमाकर्ण्य सुन्दर्या गुणपालस्य कथितम्—अथ रात्रौ गोधनं गृहीत्वा प्रसरे त्वामटव्यां प्रेषयित्वा कुण्डलहस्तेन माता मारयिष्यत्यतः सावधानो भवेस्त्वमिति। धनश्रिया च रात्रिपश्चिमप्रहरे गुणपालो भणितो हे पुत्र! कुण्डलस्य शरीरं विरूपकं वर्तते अतः प्रसरे गोधनं गृहीत्वाद्य त्वं व्रजेति स च गोधनमटव्यां नीत्वा काष्ठं च वस्त्रेण पिधाय तिरोहितो भूत्वा स्थितः। कुण्डलेन चागत्य गुणपालोऽयमिति मत्वा वस्त्रप्रच्छादितकाष्ठे घातः कृतो गुणपालेन च स खड्गेण हत्वा मारितः। गृहे आगतो गुणपालो धनश्रिया पृष्टः। "क रे कुण्डलः" तेनोक्तं कुण्डलवार्तामयं खड्गोऽभिजानाति। ततो रक्तलिप्तं बाहुमालोक्य स तेनैव खड्गेन मारितः। तं च मारयन्तीं धनश्रियं दृष्ट्वा सुन्दर्या मुशलेन सा हता। कोलाहले जाते कोट्टपालैर्धनश्रीर्धृत्वा राज्ञोऽग्रे नीता। राज्ञा च गर्दभारोहणे कर्णनासिकाच्छेदनादिनिग्रहे कारिते मृत्वा दुर्गतिं गतेति प्रथमाणुव्रतस्य।

सत्यघोषोऽनृताद्बहुदुःखं प्राप्तः। इत्यस्य कथा।

जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे सिंहपुरे राजा सिंहसेनो राज्ञी रामदत्ता, पुरोहितः श्रीभूतिः स ब्रह्मसूत्रे कर्त्रिकां बध्वा भ्रमति। वदति च यद्यसत्यं ब्रवीमि तदाऽनया कर्त्रिकया निजजिव्हाछेदं करोमि। एवं कपटेन वर्तमानस्य तस्य सत्यघोष इति द्वितीयं नाम संजातः लोकाश्च विश्वस्तास्तत्पार्श्वे द्रव्यं धरन्ति च। तद्द्रव्यं किंचित्तेषां समर्प्य स्वयं गृह्णाति। पूत्कर्तुं च बिभेति लोकः, न च पूत्कृतं राजा शृणोति। अथैकदा पद्मखण्डपुरादागत्य समुद्रदत्तो वणिक्पुत्रस्तत्र सत्यघोषपार्श्वेऽनर्घ्याणि पंचमाणिक्यानि धृत्वा परतीरे द्रव्यमुपार्जयितुं गतः। तत्र च तदुपार्ज्य व्याघुटितः स्फुटितप्रवहण एकफलकेनोत्तीर्य समुद्रं धृतमाणिक्यवाञ्छया सिंहपुरे सत्यघोषसमीपमायातः। तं च रंकसमानमागच्छन्तमालोक्य तन्माणिक्यहरणार्थिना सत्यघोषेण प्रत्ययपूरणार्थं समीपोपविष्टपुरुषाणां कथितं। अयं पुरुषः स्फुटितप्रवहणः ततो ग्रहिलो जातोऽत्रागत्य माणिक्यानि याचिष्यतीति। तेनागत्य प्रणम्य चोक्तं भो सत्यघोष पुरोहित! ममार्थोपार्जनार्थं गतस्योपार्जनार्थस्य महानर्थो जात इति मत्वा यानि मया तव रत्नानि धर्तुं समर्पितानि तानीदानीं प्रसादं कृत्वा देहि। येनात्मानं स्फुटितप्रवहणात् गतद्रव्यं समुद्धरामि। तद्वचनमाकर्ण्य कपटेन सत्यघोषेण समीपोपविष्टा जना भणिता मया प्रथमं यद् भणितं भवतां सत्यं जातं। तैरुक्तं भवन्त एव जानन्त्ययं ग्रहिलोऽस्मात् स्थानान्निःसार्यतामित्युक्त्वा तैः समुद्रदत्तो गृहान्निःसारितः ग्रहिल इति भण्यमानः। पत्तने पूत्कारं कुर्वन् ममानर्घ्यपंचमाणिक्यानि सत्यघोषेण गृहीतानि तथा राजगृहसमीपे चिंचावृक्षमारुह्य पश्चिमरात्रे पूत्कारं कुर्वन् षण्मा-

सान् स्थितः तां पूत्कृतिमाकर्ण्य रामदत्तया भणितः सिंहसेनः—देव ! नायं पुरुषः ग्रहिलः । राज्ञापि भणितं—किं सत्यघोषस्य चौर्यं संभाव्यते ? । पुनरुक्तं राज्ञ्या देव ! संभाव्यते तस्य चौर्यं यतोऽयमेतादृशमेव सर्वदा वचनं ब्रवीति । एतदाकर्ण्य भणितं राज्ञा—यदि सत्यघोषस्यैतत् संभाव्यते तदा त्वं परीक्षयेति । लब्धादेशया रामदत्तया सत्यघोषो राजसेवार्थमागच्छन्नाकार्य पृष्टः-किं बृहद्वेलायामागतोऽसि ? तेनोक्तं—मम ब्राह्मणीभ्राताद्य प्राघूर्णकः समायातस्तं भोजयतो बृहद्वेला लग्नेति । पुनरप्युक्तं तया—क्षणमेकमत्रोपविश ममातिकौतुकं जातं । अक्षक्रीडां कुर्मः । राजापि तत्रैवागतस्तेनाप्येवं कुर्वित्युक्तं । ततोऽक्षद्यूते क्रीडया संजाते रामदत्तया निपुणमतिविलासिनी कर्णे लगित्वा भणिता-सत्यघोषः पुरोहितो राज्ञीपार्श्वे तिष्ठति तेनाहं ग्रहिलमाणिक्यानि याचितुं प्रेषितेति तद्ब्राह्मण्यग्रे भणित्वा तानि याचयित्वा च शीघ्रमागच्छेति । ततस्तया गत्वा याचितानि तद्ब्राह्मणया च पूर्वं सुतरां निषिद्धया न दत्तानि । तद्विलासिन्या चागत्य देविकर्णे कथितं सा न ददातीति । ततो जितमुद्रिका तस्य साभिज्ञानं दत्ता पुनः प्रेषिता तथापि तया न दत्तानि । ततस्तस्य कर्त्रिका यज्ञोपवीतं जितं साभिज्ञानं दत्तं दर्शितं च । तया ब्राह्मण्या तद्दर्शनाद् दुष्टया भीतया च तया समर्पितानि माणिक्यानि तद्विलासिन्याः । तया च रामदत्तायाः समर्पितानि । तया च राज्ञो दर्शितानि । तेन च बहुमाणिक्यमध्ये निक्षेप्याऽऽकार्य च ग्रहिलो भणितः, रे निजमाणिक्यानि परिज्ञाय गृहाण । तेन च तथैव गृहीतेषु तेषु राज्ञा रामदत्तया च पुत्रः प्रतिपन्नः । ततो राज्ञा

सत्यघोषः पृष्टः—इदं कर्म त्वया कृतमिति । तेनोक्तं देव ! न करोमि स्म किं ममेदृशं कर्तुं युज्यते ? ततोऽतिरुष्टेन तेन राज्ञा तस्य दण्डत्रयं कृतम् । गोमयभृतं भाजनत्रयं भक्षय, मल्लमुष्टिघातं वा सहस्व, द्रव्यं वा सर्वं देहि । तेन च पर्यालोच्य गोमयं खादितुमारब्धं । तदशक्तेन मुष्टिघातः सहितुमारब्धः । तदशक्तेन द्रव्यं दातुमारब्धं । तदशक्तेन गोमयभक्षणं पुनर्मुष्टिघात इति । एवं दण्डत्रयमनुभूय मृत्वाऽतिलोभवशाद्राजकीयभाण्डागारे अगन्धनसर्पो जातः । तत्रापि मृत्वा दीर्घसंसारी जात इति द्वितीयव्रतस्य ।

तापसश्चौर्याद्बहुदुःखं प्राप्तः । **इत्यस्य कथा ।**

वत्सदेशे कौशाम्बीपुरी राजा सिंहरथो राज्ञी विजया । तत्रैकश्चौरः कौटिल्येन तापसो भूत्वा परभूमिमस्पृशदवलम्बमानशिक्यस्थो दिवसे पंचाग्निसाधनं करोति । तत्र च कौशाम्बीं मुषित्वा तिष्ठति । एकदा महाजनान्मुष्टं नगरमाकर्ण्य राज्ञा कोट्टपालो भणितो रे सप्तरात्रमध्ये चौरं निजशिरो वाऽऽनय । ततश्चौरमलभमानश्चिन्तापरः तलारोऽपराह्ने बुभुक्षितब्राह्मणेन चैकदागत्य भोजनं प्रार्थितः तेनोक्तं हे ब्राह्मण ! छन्दसोऽसि, मम प्राणसन्देहो वर्तते त्वं च भोजनं प्रार्थयसे एतद्वचनमाकर्ण्य पृष्टं ब्राह्मणेन—कुतस्ते प्राणसन्देहः ? कथितं च तेन । तदाकर्ण्य पुनः पृष्टं ब्राह्मणेन- अत्र किं कोऽप्यतिनिस्पृहपुरुषोऽप्यस्ति ? उक्तं तलारेण—अस्ति विशिष्टतपस्वी, न च तस्यैतत् सम्भाव्यते । भणितं ब्राह्मणेन स एव चौरो भविष्यति अतिनिस्पृहत्वात् । श्रूयतामत्र मदीयां कथां–मम ब्राह्मणी महासती परपुरुषशरीरं न स्पृशतीति निजपुत्रस्याप्यतिकुक्कुटाद्

कर्पटेन सर्वं शरीरं प्रच्छाद्य स्तनं ददाति। रात्रौ तु गृहपिण्डारेण सह कुकर्म करोति। तद्दर्शनात् संजातवैराग्योऽहं संबलार्थं सुवर्णशलाकां वंशयष्टिमध्ये निक्षिप्य तीर्थयात्रायां निर्गतः। अग्रे गच्छतश्च ममैकबटुको मिलितो न तस्य विश्वासं गच्छाम्यहं यष्टिरक्षां यत्नतः करोमि। तेनाऽऽकलितां यष्टिं संगे बिभर्मि। एकदा रात्रौ कुम्भकारगृहे निद्रां कृत्वा दूराद्गत्वा तेन निजमस्तके लग्नं कुथिततृणमालोक्यातिकुक्कुट समागतो, हा हा मया नोक्तं परतृणमदत्तं ग्रसितमित्युक्त्वा व्याघुट्य तृणं तत्रैव कुंभकारगृहे निक्षिप्य दिवसावसाने कृतभोजनस्य ममागत्य मिलितः। भिक्षार्थं गच्छतस्तस्यातिशुचिरयमिति मत्वा विश्वसितेन मया यष्टिः कुक्कुरादिवारणार्थं समर्पिता। तां गृहीत्वा स गतः ॥२॥ ततो मया महाटव्यां गच्छतातिवृद्धपक्षिणोऽतिकुक्कुट दृष्टं यथा एकस्मिन् महति वृक्षे मिलितः पक्षिगणो रात्रावेकेनातिवृद्धपक्षिणा निजभाषया भणितो—रे रे पुत्राः ! अहं अतीव गन्तुं न शक्नोमि बुभुक्षितमनाः कदाचिद्भवत्पुत्राणां भक्षणं करोमि चित्तचापल्यादतो मम मुखं प्रभाते बद्ध्वा सर्वेऽपि गच्छन्तु। तैरुक्तः—हा हा तात ! पितामहस्त्वं किं तवैतत् संभाव्यते ? तेनोक्तं—"बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" इति। एवं प्रभाते तस्य पुनर्वचनात् तन्मुखं बद्ध्वा गताः स च वृद्धो गतेषु तेषु चरणाभ्यां मुखाद्बन्धनं दूरीकृत्य तद्बालकान् भक्षयित्वा तेषामागमनसमये पुनः चरणाभ्यां बन्धनं मुखे संयोज्यातिकुक्कुटेन क्षीणोदरो भूत्वा स्थितः (३)। ततो नगरगतेन चतुर्थमतिकुक्कुट दृष्टं यथा तत्र नगरे एकश्चौरस्तपस्विरूपं धृत्वा बृहच्छिलां च मस्तकस्योपरि हस्ताभ्यामूर्ध्वं गृहीत्वा

नगरमध्ये दिवा रात्रौ चातिकुक्कुटेनापसरणादं ददामीति भणन् भ्रमति। "अपसरजीवेति" चासौ भक्तसर्वजनैर्भण्यते। स च गर्तादिविजनस्थाने दिगवलोकनं कृत्वा सुवर्णभूषितमेकाकिनं प्रणमन्तं तया शिलया मारयित्वा तद्द्रव्यं गृह्णाति (४) इत्यतिकुक्कुटचतुष्टयमालोक्य मया श्लोकोऽयं कृतः—

अबालस्पर्शका नारी, ब्राह्मणस्तृणहिंसकः।
वने काष्ठमुखः पक्षी पुरेऽपसरजीवकः॥ इति

इति कथयित्वा तलारं चीरयित्वा सन्ध्यायां ब्राह्मणः शिक्यतपस्विसमीपं गत्वा तपस्विप्रतिचारकैर्निवार्यमाणोऽपि रात्र्यन्धो भूत्वा तत्र पतित्वैकदेशे स्थितः। ते च प्रतिचारकाः रात्र्यन्धपरीक्षणार्थं तृणकंडुकांगुल्यादिकं तस्याक्षिसमीपं नयन्ति। स च पश्यन्नपि न पश्यति वृद्धरात्रौ गुहायामन्धकूपे नगरद्रव्यं ध्रियमाणमालोक्य तेषां खानपानादिकं वाऽऽलोक्य प्रभाते राज्ञा मार्यमाणस्तलारो रक्षितः, तेन रात्रिदृष्टमावेद्य स शिक्यतपस्वी चौरस्तेन तलारेण बहुकदर्थनादिभिः कदर्थ्यमानो मृत्वा दुर्गतिं गतः तृतीयव्रतस्य।

आरक्षिणाऽब्रह्मनिवृत्त्यभावाद् दुःखं प्राप्तम्। **अस्य कथा।**

आभीरदेशे नासिक्यनगरे राजा कनकरथो राज्ञी कनकमाला, तलारो यमदण्डस्तस्य माता बहुसुन्दरी तरुणरण्डा पुंश्चली। सा एकदा वध्वा धर्तुं समर्पिताभरणं गृहीत्वा रात्रौ संकेतिनजारपार्श्वे गच्छन्ती यमदण्डेन दृष्ट्वा सेविता चैकान्ते। तदाभरणं चानीय तेन निजभार्याया दत्तम्। तया च दृष्ट्वा भणितं-मदीयमिदमाभरणं, मया श्वश्रूहस्ते धृतं। तद्वचनमाकर्ण्य तेन चिन्तितं या मया सेविता

सा मे जननी भविष्यति। ततस्तस्या जारसंकेतगृहं गत्वा तां सेवित्वा तस्यामासक्तो गूढवृत्त्या तया सह कुकर्मरतः स्थितः। एकदा तद्भार्यया असहनादतिरुष्टया रजक्याः कथितं। मम भर्ता निजमात्रा सह तिष्ठति। रजक्या च मालकारिण्याः कथितम्। अतिविश्वस्ता मालाकारिणी च कनकमाला राज्ञीनिमित्तं पुष्पाणि गृहीत्वा गता। तया च पृष्टा सा कुतूहलेन, जानासि हे काप्यपूर्वां वार्तां। तया तलारदृष्टतत्त्वं कथितं राज्ञ्याः, देवि! यमदण्डतलारो निजजनन्या सह तिष्ठति। कनकमालया च राज्ञः कथितं। राज्ञा गूढपुरुषद्वारेण तस्य कुकर्म निश्चित्य तलारो गृहीतो दुर्गतिं गतः, चतुर्थव्रतस्य।

परिग्रहनिवृत्त्यभावात् श्मश्रुनवनीतेन बहुतरं दुःखं प्राप्तम्। अस्य कथा

अस्ति अयोध्यायां श्रेष्ठी भवदत्तो भार्या धनदत्ता पुत्रो लुब्धदत्तः वाणिज्येन दूरं गतः। स्वमुपार्जितं तस्य चौरैर्नीतं। ततोऽतिनिर्धनेन तत्र तेन मार्गे आगच्छता तत्रैकदा गोदुहः तक्रं पातुं याचितम् तक्रे पीते स्तोकं नवनीतं कूर्चे लग्नमालोक्य गृहीत्वा चिन्तितं तेन वाणिज्यं भविष्यत्यनेन मे, एवं च तत्संचितम्। तत् स्वस्य श्मश्रुनवनीत इति नाम जातं। एवमेकदा प्रस्थप्रमाणे घृते जाते घृतस्य भाजनं पादान्ते धृत्वा शीतकाले तृणकुटीरकद्वारे अग्निं च पादान्ते कृत्वा रात्रौ संस्तरे पतितः, संचिन्तयति "अनेन घृतेन बहुतरमर्थमुपार्ज्य सार्थवाहो भूत्वा सामन्तमहासामन्तराजाधिराजपदं प्राप्य क्रमेण सकलचक्रवर्ती भविष्यामि यदा तदा च मे सप्ततलप्रसादे शय्यागतस्य पादान्ते समुपविष्टं स्त्रीरत्नं पादौ मुष्टया गृहीष्यति "न जानासि पादमर्दनं कर्तुमिति" स्नेहेन भणित्वा स्त्रीरत्नमेवं पादेन ताडयिष्यामि, एवं चिन्त-

यित्वा तेन चक्रवर्तिरूपाविष्टेन पादेन हत्वा पातितं तद्घृतभाजनं, तेन च घृतेन द्वारसंधुक्षितोऽग्निः सुतरां प्रज्वालितः। ततो द्वारे ज्वलिते निस्सर्तुमशक्तो दग्धो मृतो दुर्गतिं गतः। इच्छाप्रमाणरहितस्य पञ्चमव्रतस्य ॥ ६५ ॥

अन्वयः—धनश्री सत्यघोषौ अपि च तापसा रक्षकौ तथा श्मश्रुनवनीतः एते पंचपापेभ्यः यथा क्रमम् उपाख्येयाः ॥

निरुक्तिः—धनश्रीश्च सत्यघोषश्च इति धनश्रीसत्यघोषौ। तापसश्च आरक्षकश्चेति तापसारक्षकौ। श्मश्रौ नवनीतो यस्य स श्मश्रुनवनीतः ॥ ६५ ॥

अर्थ-धनश्री सत्यघोष और तापस तथा कोटपाल और श्मश्रुनवनीत ये पांचों पापोंसे दुर्गतिको प्राप्त हुये हैं ऐसे उपाख्यान-उदाहरण इतिहासोंमें हैं ॥ ६५ ॥

यानि चेमानि पञ्चाणुव्रतान्युक्तानि मद्यादित्रयत्यागसमन्वितान्यष्टौ मूलगुणा भवन्तीत्याह—

श्रावकोंके आठ मूलगुण होते हैं, उनके नाम बताते हैं।

मद्यमांसमधुत्यागैः, सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

१-उपाख्यातुम् उदाहर्तुं आहर्तुं योग्याः उपाख्येयाः, उप आङ् पूर्वक ख्या प्रकथने धोः "योऽचोऽप्वाम्बुः" २।१।१०३ इति यः पुनः "ईद्ये" ४।४।६८ इति ईकारादेशः "गागयोः" ५।२।६७ अनेन एप।

गृहिणामष्टौ मूलगुणानाहुः । के ते ? श्रमणोत्तमा जिनाः । किं तत् ? अणुव्रतपञ्चकम् । कैः सह ? 'मद्यमांसमधुत्यागैः' मद्यं च मासं च मधु च तेषां त्यागास्तैः ॥ २० ॥

अन्वयः–श्रमणोत्तमाः गृहिणाम् अष्टौ मूलगुणान् आहुः, के ते अष्टौ ? मद्यमांसमधुत्यागैः सह अणुव्रतपञ्चकम् ॥६६॥

निरुक्तिः–श्रमणेषु उत्तमाः श्रमणोत्तमाः । मद्यं च मासं च मधु च इति मद्यमांसमधूनि । मद्यमांसमधूनां त्यागाः इति मद्यमांस-मधुत्यागाः तैः मद्यमांसमधुत्यागैः । अणुव्रतानां पञ्चकम् इति अणुव्रत-पञ्चकम् । मूलरूपाः ये गुणाः मूलगुणाः ॥ ६६ ॥

अर्थ–गणधर देवोंने गृहस्थियोंके आठ मूलगुण बताये हैं । जोकि मद्यत्याग १ मांसत्याग २ मधुत्याग ३ अहिंसा अणुव्रत ४ सत्य अणुव्रत ५ अचौर्य अणुव्रत ६ परस्त्रीत्याग ७ परिग्रह प्रमाण ८ हैं ॥ ६६ ॥

१–सहार्थेन १।४।३४ अनेन सम्बन्धे तृतीया ।
२–पञ्चानां संघः समूहः पञ्चकः । "स्येः संघसूत्राधीतौ" ३।४।६८ "पञ्च द्रगदु वर्गे वा" ३।४।७१ इत्यन्यतराभ्यां कः ।

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गौरीलालसिद्धांतशास्त्रिणा निरुक्तायां पञ्जिकायां हिन्दीभाषायां च अणुव्रतवर्णनो नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥३॥

सद्वृत्ते गुणव्रताधिकारः ।

एवं पंचप्रकारमणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीं त्रिःप्रकारं गुणव्रतं प्रतिपादयन्नाह—

गुणव्रतका लक्षण कहते हैं--

दिग्व्रतमनर्थदण्ड·व्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
अनुबृंहणाद्गुणाना·माख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥

"आख्यान्ति" प्रतिपादयन्ति। कानि ? "गुणव्रतानि"। के ते। "आर्याः" गुणैर्गुणवद्भि र्वा अर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्यास्तीर्थकरदेवादयः। किं तद् गुणव्रतं ? "दिग्व्रतं" दिग्विरतिं ! न केवलमेतदेव किन्तु 'अनर्थदण्डव्रतं' चानर्थदण्डविरतिं। तथा "भोगोपभोगपरिमाणं" सकृद् भुज्यत इति भोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः। पुनः पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगो वस्त्राभरणयानजम्पानादिः (स्त्रीजनोपसेवनादि) तयोः परिमाणं कालनियमनं यावज्जीवनं वा। एतानि त्रीणि कस्माद् गुणव्रतान्युच्यन्ते "अनुबृंहणात्" वृद्धि नयनात्। केषां "गुणानाम्, अष्टमूलगुणानाम् ॥ ६७ ॥

अन्वयः-आर्याः दिग्व्रतम् अनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणं गुणव्रतानि आख्यान्ति, कस्मात् गुणानाम् अनुबृंहणात् ॥

निरुक्तिः—दिशाम् व्रतम् दिग्व्रतम्। नास्ति अर्थो लाभः प्रयोजनं येभ्यस्ते अनर्थाः। अनर्थाश्च दण्डा इति अनर्थदण्डाः। अनर्थदण्डानां व्रतम् अनर्थदण्डव्रतम्। भोगश्च उपभोगश्च भोगोपभोगौ। भोगोपभोगयोः परिमाणं भोगोपभोगपरिमाणम्। गुणान् अष्टौ मूलगुणान् बृंहयन्ति वर्धयन्ते इति गुणव्रतानि ॥ ६७ ॥

अर्थ–आचार्य भगवान् दिग्व्रत अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इनको गुणव्रत कहते हैं। क्योंकि ये तीनों गुणोंको (अणुव्रतोंको चरित्रोंको) बढ़ाते हैं इससे इनको गुणव्रत कहते हैं ॥६७॥

तत्र दिग्व्रतस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

दिग्व्रत गुणव्रतका लक्षण कहते हैं—

दिग्वलयं परिगणितं, कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि
इति सङ्कल्पो दिग्व्रत-मामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥

'दिग्व्रतं' भवति। कोऽसौ? 'संकल्पः'। कथंभूतः? अहं बहिर्न यास्यामीत्येवं रूपः। किं कृत्वा? 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वा' समर्यादं कृत्वा। कथं? 'आमृति' मरणपर्यन्तं यावत्। किमर्थम्? "अणुपापविनिवृत्त्यै" सूक्ष्मस्यापि पापस्य विनिवृत्त्यर्थम् ॥६८॥

अन्वयः–इति संकल्पः दिग्व्रतं भवति। इतीति किम्? "अहं दिग्वलयं परिगणितं कृत्वा अतः बहिः न यास्यामि, कस्यै सिद्ध्यै? अणुपापविनिवृत्त्यै। कदापर्यन्तम्? आमृति।

निरुक्तिः–दिशां वलयः दिग्वलयः तम् दिग्वलयम्। अणु च यत् पापं अणुपापं, अणुपापस्य विनिवृत्तिः अणुपापविनिवृत्तिः तस्यै पापविनिवृत्त्यै। मृतेः पर्यन्तम् इति आमृति ॥६८॥

अर्थ–इस प्रकार संकल्पकर प्रतिज्ञा करना सो दिग्व्रत है। किस प्रकारका संकल्प? जो कि मैं दिशा समूहका

१–पर्यपाङ्बहिरञ्चः २।३।१० इति हस्मः। अव्ययीभावः "हात्" १।४ १६८ इति सुप उप्।

परिमाण कर उसके बाहर न जाऊंगा, किस सिद्धिके लिये सूक्ष्मपापोंकी भी निर्वृत्तिके (दूर करनेके) लिये कबतक-जीवन पर्यंत ॥ ६८ ॥

तत्र दिग्वलयस्य परिगणितत्वे कानि मर्यादा इत्याह—

दिग्व्रतकी मर्यादाओंको बताते हैं—

मकराकरसरिदटवी-
गिरिजनपदयोजनानि मर्य्यादाः ।
प्राहुर्दिशां दशानां, प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥६९॥

प्राहुर्मर्यादाः । कानीत्याह—'मकराकरे'त्यादि मकराकरश्च समुद्रः, सरितश्च नद्यो गंगाद्याः, अटवी दंडकारण्यादिका, गिरिश्च पर्वतः सह्यविन्ध्यादिः, जनपदो देशो वराट वापीतटादिः, योजनानि विंशतित्रिंशतादिसंख्यानि । किं विशिष्टान्येतानि ? प्रसिद्धानि दिग्विरतिमर्यादानां दातुर्गृहीतुश्च प्रसिद्धानि । कासां मर्यादाः ? दिशां । कतिसंख्यावच्छिन्नानां ? दशानां । कस्मिन् कर्तव्ये सति मर्यादाः ? प्रतिसंहारे इतः परतो न यास्यामीति व्यावृत्तौ ॥ ६९ ॥

अन्वयः—दशानां दिशां प्रतिसंहारे मकराकर सरिदटवी गिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः प्राहुः कथंभूतानि तानि ? प्रसिद्धानि ॥

निरुक्तिः—मकराकरश्च सरिच्च अटवी च गिरिश्च जनपदश्च

१-सरित् स्रोतस्विनी धुनी सिंधुः, स्रवंती निम्नगाऽपगा । नदी नदो ह्रिरैकश्च, सरिन्नाम्नी तरंगिणी ॥२४॥ इति धनञ्जयः-नाममाला ।

योजनं च इति मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि ॥ ६९ ॥

अर्थ-(दशो दिशाओंके संकोचनमें) दिग्व्रत करनेमें गणधरदेव समुद्र, नदी, वनी, पर्वत, देश और योजन इनको मर्यादा बताते हैं। कैसे हैं ये समुद्रादिक ? प्रसिद्ध हैं (जिनके नाम लोक प्रसिद्ध हो रहे हैं)॥ ६९ ॥

एवं दिग्विरतिव्रतं धारयतां मर्यादातः परतः किं भवतीत्याह--

दिग्विरतिसे अणुव्रतोंमें क्या वृद्धि होती है ऐसा बताते हैं

अवधेर्बहिरणुपापं,
प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पञ्चमहाव्रतपरिणति-मणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७०॥

अणुव्रतानि प्रपद्यन्ते। काम ? पञ्चमहाव्रतपरिणतिम्। केषां ? धारयताम्। कानि ? दिग्व्रतानि। कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते ? अणु-पापं प्रति विरतेः सूक्ष्ममपि पापं प्रति विरतेः व्यावृत्तेः। क ? बहिः। कस्मात् ? अवधेः कृतमर्यादायाः ॥ ७० ॥

अन्वयः-दिग्व्रतानि धारयतां श्रावकानां अणुव्रतानि पञ्चमहाव्रत परिणतिं प्रपद्यन्ते कस्मात् हेतोः ? अवधेः वहिः अणुपापं प्रति विरतेः।

निरुक्तिः---अणु च यत् पापम् अणुपापं। पञ्चानां महा-व्रतानां परिणतिः इति पञ्चमहाव्रतपरिणतिः ताम् ॥ ७० ॥

१-अवधेरत्र "दिक्शब्दान्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" २।३।२९ अनेन पञ्चमी विभक्तो। वहिरिति झेः योगात्।

२-अत्र "भागे चानु प्रतिपरिणा" १।४।९० द्वितोया विभक्ती

अर्थ—दिग्व्रत धारण करनेवाले श्रावकोंके अणुव्रत पंच महाव्रतके परिणामको प्राप्त हो जाते हैं। किस हेतुसे? जो कि की हुई मर्यादाओंके बाहर क्षेत्रमें सूक्ष्म भी हिंसादिक पापोंका त्याग हो जानेसे ॥७०॥

तथा तेषां तत्परिणतावपरमपि हेतुमाह--

दिग्विरती आदि गुणव्रतोंके धारण करने वाले श्रावकोंके अहिंसादिक व्रत महाव्रत क्यों नहीं कहे जाते? इस प्रश्नका उत्तर बताते हुए कारिका कहते हैं—

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः
सत्त्वेन दुरवधारा, महाव्रताय प्रकल्पन्ते ॥७१॥

'चरणमोहपरिणामा' भावरूपाश्चारित्रमोहपरिणतयः। प्रकल्प्यन्ते उपचरन्ति ("कल्प्यन्ते' उपचर्यन्ते)। किमर्थम्? महाव्रतनिमित्तम्। कथंभूताः सन्तः? 'सत्त्वेन दुरवधारा' अस्तित्वेन महता कष्टेनावधार्यमाणाः सन्तोऽपि-तेऽस्तित्वेन लक्षयितुं न शक्यन्त इत्यर्थः। कुतस्ते दुरवधाराः? 'मन्दतरा' अतिशयेनानुत्कटाः। मन्दतरत्वमप्येषां कुतः! 'प्रत्याख्यानतनुत्वात्' प्रत्याख्यानशब्देन प्रत्याख्यानावरणाः। द्रव्यक्रोधमानमायालोभा गृह्यन्ते, नामैकदेशे हि प्रवृत्ताः शब्दा नामन्यपि वर्तन्ते भीमादिवत्। प्रत्याख्यानं हिंसाविकल्पेन हिंसादिविरतिलक्षणः संयमस्तदावृण्वन्ति ये ते प्रत्याख्यानावरणा द्रव्यक्रोधादयः, यदुदये ह्यात्मा कार्त्स्न्यात्तद्विरतिं कर्तुं न शक्नोति अतो द्रव्यरूपानां क्रोधादीनां तनुत्वान्मन्दोदयत्वाद्भावरूपाणां तेषां मन्दतरत्वं सिद्धम् ॥ ७१ ॥

अन्वयः–प्रत्याख्यानतनुत्वात् चरणमोहपरिणामाः मन्दतराः भवन्ति । ते सत्त्वेन दुरवधाराः सन्तः महाव्रताय प्रकल्पन्ते ॥

निरुक्तिः–प्रत्याख्यानस्य[1] तनुत्वं सूक्ष्मत्वं प्रत्याख्यान-तनुत्वं, तस्मात् । चरणं मोहयति इति चरणमोहः । चरणमोहस्य परिणामा इति चरणमोहपरिणामाः । अतिशयेन मन्दा इति मन्दतराः[2] । सतोः भावः सत्त्वं तेन सत्त्वेन[3] । दुःखेन कष्टेन वा अवधार्यन्ते इति दुरवधाराः । महच्च व्रतं महाव्रतं[4] तस्मै ॥

अर्थ--प्रत्याख्यानावरण कषायके मन्द परिणमन होनेसे चारित्र मोहनीय कर्मके परिणाम भी मन्दतर हो जाते हैं । वे "हैं" विद्यमान हैं ऐसा भी बड़ी कठिनतासे निश्चित किया जाता है । किन्तु वही परिणाम महाव्रतोंको विकृत करते रहते हैं । उनमें महाव्रतोंको पूर्णतासे निरन्तर

१–प्रत्याख्यानं सकलचारित्रमावरयति आच्छादयतीति प्रत्याख्यानावरणमिति कषायवेदनीयविकल्पस्य नाम । तस्य "लोप" ४।३।१२६ इत्यनेन आवरणपदस्य उप्, प्रत्याख्यान मिति पदं भूयते । २–"द्विविभज्येतरः" ४।१।१६१ इति तरः त्यः । ३–"भावे त्व तल्" ३।४।१३६ इति त्व त्यः अस्तित्वेन इत्यर्थः, "प्रकृत्यादिभ्यः" १।४।३३ इति भा । ४–अत्र "क्लृप्यर्थौविकारे" १।४।२६ अनेन कर्मणि प्रकल्पन्ते इति क्रियायोगे "अप्" विभक्ती । अपूर्णांकात् कृपूङ् सामर्थ्यों इति धोः कर्तरि लट् झः–अन्ते कृते शप् "गागयोः" ५।२।६१ इति एप् ततः "कृपोदोलोऽकृपादीनाम्" ५।३।५१ इति रेफस्य लकारादेशः । प्रकल्पन्ते–विकुर्वते दूषयन्ति च ।

नहीं रहने देते ! क्योंकि उनके प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है और जबतक कि कषायवेदनीयकी तीसरी चौकड़ी नहीं नष्ट होगी तबतक महाव्रत नहीं प्रकट होते ऐसा सिद्धांत है ॥ ७१ ॥

भावार्थ—की हुई मर्यादाओंके वाहिर क्षेत्रोंमें स्थावर प्राणियोंकी हिंसा चोरी आदि पापकर्म तथा अपने निमित्तसे होनेवाली (होसकनेवाली) त्रस प्राणियोंकी विरोधी आरम्भी उद्यमी हिंसाके तथा सूक्ष्म चोरी आदि पाप प्रवृत्तियोंके परित्याग होनेसे इस गुणव्रती श्रावकके अणुव्रत महाव्रतकी पर्याय को प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि चारित्रमोहनीयके कषायवेदनीयकी जो तीसरी चौकड़ी प्रत्याख्यानकषाय कर्म है उसके सूक्ष्म अंशोंके क्षयोपशम होनेसे वह चारित्रमोहनीय प्रकृति जो महाव्रतोंकी घातक थी वह अपने फल प्रदान करनेमें मन्द शक्तिवाली (अशक्त-निर्बल) हो जाती है कि उसका अस्तित्व (चिन्ह) कठिनतासे जाना जा सकता है परंच उस प्रत्याख्यान कषायका उदय उसके अवश्य रहता है इससे उसके परिणाम महाव्रतोंमें विकृतिको उत्पन्न करते रहते हैं : यह भाव 'महाव्रताय' इस पदमें दी हुई चतुर्थी विभक्ति का है। वह जैनेन्द्र व्याकरणके १।४।२६ सूत्रसे जाना जाता है। जो कि भगवान समन्तभद्र स्वामीने ७१ मी कारिकामें भर दिया है। गुणव्रती गृहस्थोंके मन वचन काय योगके कृत कारित और अनुमोदनारूप नव भङ्गोंसे महाव्रत नहीं हो सकते; किंतु महाव्रत तो नव भङ्गरूप गृहत्यागी दिगम्बर जिनदीक्षा धारक ऐसे महा—

पुरुषोंके ही होते हैं ऐसा भाव ७२ मी कारिकामें दिये हुवे "तु" शब्दसे ज्ञात कराया है।

ननु कुतस्ते महाव्रताय कल्प्यन्ते न पुनःसाक्षान्महाव्रतरूपा भवन्तीत्याह-

महाव्रतोंको धारण करनेवाले तो आगममें ऐसे बताये गये हैं जोकि समस्त प्रकार के वस्त्रादि परिग्रहोंके त्याग करने वाले महत् पुरुष ही होसकते हैं ऐसा बताते हैं। अथवा वे दिग्विरत आदि महाव्रतोंको क्यों अव्यक्त (विकृत) करते रहते हैं किंतु वे व्यक्त महाव्रती नहीं होते ऐसा बताते हैं।

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्॥

"त्यागस्तु" पुनर्महाव्रत भवति। केषां त्यागः "हिंसादीनां" "पंचानां"। कथंभूतानां? "पापानां" पापोपार्जनहेतुभूतानाम्। कैस्तेषां त्यागः? "मनोवचःकायैः। तत्रापि कैः कृत्वा त्यागः "कृतकारितानुमोदैः। अयमर्थः हिंसादीनां मनसा कृतकारितानुमोदैस्त्यागः। तथा वचसा कायेन चेति। केषां तत्त्यागो महाव्रतं "महताम्" प्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनां विशिष्टात्मनाम्॥ ७२॥

अन्वयः—कृतकारितानुमोदैः मनोवचःकायैः हिंसादीनां पञ्चानां पापानां त्यागः महाव्रतं कथ्यते। तत्तु महताम्पुरुषाणामेव भूयते॥

निरुक्तिः--हिंसा आदौ येषां ते कृतश्च कारितश्च अनुमोदश्चेति

कृतकारितानुमोदाः तै । मनश्च वचश्च कायश्चेति मनोवचःकायाः तैः । हिंसा आदौ येषां तानि हिंसादीनि, तेषाम् । त्यजनं परिवर्जनं त्यागः । महतां पुण्यपुरुषाणां व्रतमिति महाव्रतम् । मह्यन्ते पूज्यन्ते इति महान्तः, तेषाम् । तु इति भिन्नकपदम् भेदे वर्तते-वाक्यान्तरं द्योतयति । तथा अवधारणेऽर्थे वर्तते । महतामेव जायते स्थीयते ।

अर्थ--किये गये कराये गये और अनुमोदित किये ऐसे मनसे या वचनसे तथा कायसे हिंसादिक पांचों पापोंका त्याग कर देना सो महाव्रत कहा जाता है । वह महान पुरुषोंके ही होता है । निर्बल भीरु जो नग्न आदि परीषहोंको नहीं सह सकते हैं, घर कुटुम्बसे ममत्व नहीं छोड़ सकते उनके ये महाव्रत नहीं हो सकते । किंतु दिग्विरति आदि गुणव्रतोंके धारण करनेसे व्रतोंमें महत्त्व-उन्नति वृद्धि अवश्य होती है । ऐसा इन कारिकाओंका सम्बन्ध कर अर्थ बताया गया है ॥ ७२ ॥

इदानीं दिग्विरतिव्रतस्यातिचारानाह--

दिग्व्रतके अतीचार कहते हैं-

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते॥७३॥

१-"आङ् महतो जातीये च" ४।३।२०६ इति सूत्रेण महत शब्द आकादेशः । २-तु स्याद् भेदेऽवधारणे इत्यमरः ।

"दिग्विरतेरत्याशाः" अतीचाराः "पञ्च मन्यन्तेऽभ्युपगम्यन्ते। तथा हि। अज्ञानात् प्रमादाद्वा ऊर्ध्वदिशोऽधस्ताद्दिशास्तिर्यग्दिशाश्च व्यतीपाता विशेषणातिक्रमणानि त्रयः। तथा अज्ञानात् प्रमादाद्वा 'क्षेत्रवृद्धिः' क्षेत्राधिक्यावधारणम्। तथा 'अवधीनां' दिग्विरतेः कृतमर्यादानां विस्मरणमिति ॥ ७३ ॥

अन्वयः- दिग्विरतेः पञ्च अत्याशाः मन्यन्ते। के ते पञ्च ? ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिः च अवधीनां विस्मरणम्।

निरुक्तिः--उर्ध्वश्च अधस्ताच्च तिर्यङ् च इति उर्ध्वाधस्तात्तिर्यञ्चः तेषां व्यतिपाताः उर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः। क्षेत्राणां वृद्धिः क्षेत्रवृद्धिः ॥ ७३ ॥

अर्थ - दिग्व्रतके पांच अतीचार आचार्योंने माने हैं, जो कि ऊपरकी मर्यादाका उल्लंघन करना १, नीचेकी मर्यादाका उल्लंघन करना २, चारों तरफकी मर्यादाका उल्लंघन करना ३, क्षेत्रको बढा लेना ४ तथा मर्यादाओं को भूल जाना ५ ॥ ७३ ॥

१-अतिशयिता आशा तृष्णा इति अत्याशाः। अथवा अधिकीकृता आशा दिशः येषु ते अत्याशाः। दन्त्यसकारपाठे तु अत्यस्यन्ते क्षिप्यन्ते अत्यासाः अति पूर्वक असु क्षेपणे घो: घञ् अतीचाराः इति यावत्। २-दिग्भ्यो वाकेभ्योऽस्तात् दिग्देशकाले ४।१।२३४ अनेन अवर शब्दात् "अस्तात्" त्यः-पुनः "अस्ताति" ४।१।१४७ इति च अधादेशः। तिरः अञ्चति प्राप्नोतीति तिर्यङ् "तिरसस्तिर्यी" ४।३।२५८ इति तिरि आदेशः।

अनर्थदण्डव्रतका लक्षण कहते हैं—

अभ्यन्तरं दिगवधे रपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः ।
विरमणमनर्थदण्ड व्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥७४॥

अनर्थदण्डव्रतं विदुः जानन्ति । के ते । 'व्रतधराग्रण्यः' व्रतधराणां यतीनां मध्ये अग्रण्यः प्रधानभूताः तीर्थंकरदेवादयः । विरमणं व्यावृत्तिः । केभ्यः ? सपापयोगेभ्यः पापेन सह योगः संबन्धः पापयोगः तेन सह वर्तमानेभ्यः-पापोपदेशाद्यनर्थदण्डेभ्यः । किं विशिष्टेभ्यः ? अपार्थकेभ्यः-निष्प्रयोजनेभ्यः । कथं तेभ्यो विरमणं ? अभ्यन्तरं दिगवधेः दिगवधेरभ्यन्तरं यथा भवत्येवं तेभ्यो विरमणम् । अत एव दिग्विरतिव्रतादस्य भेदः । तद्व्रते हि मर्यादातो बहिः पापोपदेशादिविरमणम् अनर्थदण्डविरतिव्रते तु ततोऽभ्यन्तरे तद्विरमणम् ।

अन्वयः—व्रतधराग्रण्यः दिगवधेः अभ्यन्तरम्[1] अपार्थकेभ्यः[2] सपापयोगेभ्यः विरमणम् अनर्थदण्डव्रतं विदुः ।

निरुक्तिः—दिशाम् अवधिः दिगवधिः तस्य । व्रतानि धरन्ति इति व्रतधराः व्रतधरेषु अग्रण्यः व्रतधराग्रण्यः । पापयोगेन[3] सह

१—अन्तरम् अभि मुख्यमिति अभ्यन्तरम् "लक्षणेनाभिमुख्येऽभि प्रतो" १।३।११ इति हसः, मध्ये इत्यर्थाः । २—प्रत्यवपाद मिः प्रत्याद्यागत" १।३।८४ इत्यादिना सः "ततो नञोर्थात्" ४।३।१६१ इति कप्रत्यः । ३—"अघमंहश्च दुरितं पाप्मा पापं च किल्बिषम् । वृजिनं कलिलमेनो दुष्कृतं तज्जयी जिनः" इति धनंजयः ।

वर्तन्ते इति सपापयोगाः तेभ्यः । अपगतः अर्थो येभ्यः ते अपार्थकाः तेभ्यः ॥ ७४ ॥

अर्थ-व्रतधारियोंमें जो अग्रणी तीर्थंकर देव हैं वे अवधिके भीतर भी जो पापवाले निरर्थक-योग-साधन होते हैं उनसे विरक्त होना उसको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं ॥

अथ के ते अनर्थदण्डा यतो विरमणं स्यादित्याह--

अनर्थदण्डके भेद और नाम बताते हैं।

पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च ।
प्राहुः प्रमादचर्य्या-मनर्थदण्डानदण्डधराः ॥७५॥

दंडा इव दण्डा अशुभमनोवाक्कायाः परपीडाकरत्वात्, तान् धरन्ति अदण्डधरा गणधरदेवादयस्ते प्राहुः। कान् ? अनर्थदण्डान्। कति ? पंच। कथमित्याह पापेत्यादि। पापोपदेशश्च हिंसादानं च अपध्यानं च दुश्रुतिश्च एताश्चतस्रः प्रमादचर्या चेति पंचमी ॥७५॥

अन्वयः-अदण्डधराः अनर्थदण्डान् पञ्च प्राहुः । के ते पञ्च ? पापोपदेशहिंसादानाऽपध्यानदुःश्रुतीः च प्रमादचर्याम् ।

निरुक्तिः-न दण्डं धरन्ति ते अदण्डधराः। न अर्थाः येभ्यः ते अनर्थाः । अनर्थाश्च ते दण्डाश्च अनर्थदण्डाः, तान् अनर्थदण्डान् । पापोपदेशश्च हिंसादानं च अपध्यानं च दुश्रुतिश्च इति पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतयः ताः[1] ॥७५॥

१-अत्र "कर्मणीप्" १।४।१ अनेन कर्मकारके इप् बहुवचने "शसि" ४।३।१०७ दीत्वम्।

अर्थ - गणधरदेव अनर्थदण्डोंको पांच संख्यामें बताते हैं। कौनसे वे पांच हैं? पापोपदेश, अपध्यान, हिंसादान दुःश्रुति और प्रमादचर्या ॥ ७५ ॥

तत्र पापोपदेशस्य तावत् स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

पापोदेशका लक्षण कहते हैं—

तिर्यक्क्लेशवणिज्या-हिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पापउपदेशः ॥७६॥

स्मर्तव्यो ज्ञातव्यः। कः? पाप उपदेशः पापः पापोपार्जनहेतुरुपदेशः। कथं भूतः? 'कथाप्रसंगः' कथानां तिर्यक्क्लेशादिवार्तानां प्रसंगः पुनः पुनः प्रवृत्तिः। किं विशिष्टः? प्रसवः प्रसूत इति प्रभवः उत्पादकः। केषामित्याह— 'तिर्यगित्यादि' तिर्यक्क्लेशश्च हस्तिदमनादिः, वणिज्या च वणिजां कर्म क्रयविक्रयादि, हिंसा च प्राणिवधः, आरंभश्च कृष्यादिः, प्रलम्भनं च वंचनं तानि आदिर्येषां मनुष्यक्लेशादीनां तानि तथोक्तानि तेषाम् ॥ ७६ ॥

१–अनर्थदण्डः पंचधाऽपध्यानपापोदेशप्रमादाचरितहिंसाप्रदानाशुभश्रुतिभेदात् ॥ क्लेशतिर्यग्वाणिज्यावधकारंभकादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः ॥ तद्यथा–अस्मिन् देशे दासा दास्यः सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रयकृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या। गोमहिष्यादीनमुत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या। वागुरिकसौकरिकशा–

अन्वयः—तिर्यक्क्लेशवणिज्या हिंसारम्भप्रलम्भनादीनां प्रसवः कथाप्रसंगः पापउपदेश स्मर्तव्यः ॥

निरुक्तिः— तिरश्चाम् क्लेशो यस्यां सा तिर्यक्क्लेशा तिर्यक्लेशा चासौ (वणिज्या) वणिज्या च इति तिर्यक्क्लेशवणिज्या। तिर्यक्क्लेशवणिज्या च हिंसा च आरम्भश्च प्रलम्भनं चेति तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादयः तेषाम् । कथानाम् प्रसंगः कथाप्रसंगः । पापं विद्यते यस्मिन् स पापः ॥ ७६ ॥

अर्थ—तिर्यंचोंको कष्ट (नाश) होवे ऐसा व्यापार जिनसे हिंसा बढे जिनसे आरम्भ बढे तथा लोगोंको ठगा

कुनिकादिभ्यो मृग-वराह-शकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः। आरंभकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारंभोऽनेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारंभकोपदेशः। अमुकदेशे अनया रीत्या जना वञ्च्यन्ते अत्र चैवंविधो दम्भो विधेयः, स्त्रियः एवं प्रतार्यन्ते इति प्रकथनं विरच्यन्ते पुस्तकचित्रादयः प्रलम्भनोपदेशः। इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः।

१—"प्रसवः कथाप्रसंगः" इत्यादि पाठः। प्रसवः इति पृथक् पदम्। २—पापानि विद्यन्ते यस्य यस्मिन् वा स पापः। ओऽभ्रादिभ्यः ४।१।६८ इति अत्यः । व्यस्तपदम्। न तु उपदेशः इति पदेन सह "वा" १।३।६ इति सूत्रेण सविधेः विकल्पत्वाद् न कृतः (सः) समासः।

जाय ऐसी बातोंका कथाओंमें (व्याख्यानोंमें लेखोंमें) प्रसंगका लाना प्रस्तावोंका करना) सो पापोदेश अनर्थ-दण्ड जानना ॥ ७६ ॥

अथ हिंसादानं किमित्याह—

हिंसादान अनर्थदण्डका लक्षण कहते हैं ।

परशुकृपाणखनित्र-ज्वलनायुधशृङ्गिशृंखला-दीनाम् ।
बधहेतूनां दानं, हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥७७॥

'हिंसादानं ब्रुवन्ति' । के ते ? 'बुधाः' गणधरदेवादयः किं तत् ? 'दानं' । यत्केषां ? 'वधहेतूनां' हिंसाकारणानां । केषां तत्कारणानामित्याह—'परशु'त्यादि । परशुश्च कृपाणश्च खनित्रं च ज्वलनश्चाऽऽयुधानि च छुरिकालकुटादीनि शृंगि च विषं सामान्यं शृंखला च ता आदयो येषां ते तथोक्तास्तेषाम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—वधहेतूनां परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृङ्खलादीनां, बुधाः हिंसादानं ब्रुवन्ति ।

---

१ विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानमित्युच्यते ॥ परेषां जयपराजयवधाऽङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानं ॥ हिंसारागादिप्रवर्धितदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यावृतिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते ॥

निरुक्तिः—परशुश्च कृपाणं च खनित्रं च ज्वलनं च आयुधं च शृंगी च शृङ्खला च इति परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृंगिशृंखलाः। ता आदौ येषां ते, तेषां तथा। बधस्य हेतवः इति बधहेतवः तेषाम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—मनुष्य तथा तिर्यंचोंकी हिंसाके साधक (कारण) परशु (फरसा) कृपाण, खनित्र (कुदारी फावडा) ज्वलनायुध (बन्दूक तोप बम्बके गोले) अथवा ज्वलन (अग्नि) आयुध (अस्त्र-शस्त्र) शृङ्गी (विष) शृङ्खला (वेडी) इत्यादिक हिंसाके साधक उपकरणोंके दानको बुद्धिमान आचार्य हिंसादान कहते हैं ॥ ७७ ॥

इदानीमपध्यानस्वरूपं व्याख्यातुमाह--

अपध्यान अनर्थदण्डका लक्षण बताते हैं।

बधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥

'अपध्यानं शासति' प्रतिपादयन्ति। के ते ? 'विशदा' विचक्षणाः। क्व ? 'जिनशासने'। किं तत् ? 'आध्यानं' चिन्तनं। कस्य ? 'बधबंधच्छेदादेः। कस्मात ? 'द्वेषात्'। न केवलं द्वेषादपि तु रागाच्च अपध्यानं। कस्य ? 'परकलत्रादेः' ॥ ७८ ॥

१–खन्यते अवदार्यतेऽनेन इति खनित्रम् "लुधूसुखनर्त्तिसहचरः" ३।२।१८४ अनेन करण इत्रः त्यः।

अन्वयः—जिनशासने विशदाः द्वेषात् च रागात् परकलत्रादेः बधबन्धच्छेदादेः आध्यानम् अपध्यानं शासति ॥

निरुक्तिः—बधश्च बन्धश्च छेदश्च इति बधबंधच्छेदाः ते । आदौ यस्य स बधबन्धच्छेदादिः तस्य । परस्य अन्यस्य कलत्रं पत्नी इति परकलत्रम् । तत् परकलत्रम् आदौ यस्य सः परकलत्रादिः तस्य । जिनस्य शासनं जिनशासनम्, तस्मिन् ॥ ७८ ॥

अर्थ—जिनागममें कुशल विद्वान् ऐसे आचार्य; द्वेषसे वा रागसे परस्त्री तथा परपुत्रादिकनका बन्ध मरण, छेदन आदि हो जावे ऐसे कुत्सित चिन्तवन करनेको-मन्त्र जपनेकोतन्त्र यन्त्र जपनेको अपध्यान कहते हैं ॥७८॥

साम्प्रतं दुःश्रुतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

दुःश्रुति अनर्थदण्डका लक्षण बताते है।

आरम्भसंगसाहस-मिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः ।
चेतः कलुषयतां श्रुति-रवधीनां दुःश्रुतिर्भवति७९

१-शासु अनुशिष्टौ इति अदादेर्झोः त्यः । "जक्षादि" ४।३।१० इति ष्य संज्ञत्वात् "ष्याद्त" ५।१।४ अनेन झस्य अत् आदेशः । शासति उपदिशन्ति इत्यर्थः ।

२-"भार्या जाया जनिः कुल्या कलत्रं गेहिनी गृहम् । महिला मानिनी पत्नी तथा दारा पुरन्ध्रियः" इति धनञ्जयः । कलत्रमिति शब्दः पत्नीवाचकोऽपि नपुंसके वर्तते ।

'दुःश्रुतिर्भवति'। कासौ 'श्रुतिः श्रवणं। केषां 'अवधीनां' शास्त्राणां। किं कुर्वतां 'कलुषयतां मलिनयतां। किं तत् 'चेतः' क्रोध-मानमायालोभाविष्टं चित्तं कुर्वतामित्यर्थः। कैः कृत्वेत्याह—'आरंभेत्यादि' आरम्भश्च कृष्यादिः। संगश्च परिग्रहः। तयोः प्रतिपादनं वार्ता नीतौ विधीयते 'कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्यं च वार्ता' इत्यभिधानात्, साहसं चात्यद्भुतं कर्म वीरकथायां प्रतिपाद्यते, मिथ्यात्वं चाद्वैतक्षणिकमित्यादिप्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकशास्त्रेण क्रियते, द्वेषश्च विद्वेषीकरणादिशास्त्रेणाभिधीयते, रागश्च वशीकरणादिशास्त्रेण विधीयते, मदश्च वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरित्यादिग्रन्थाज्ज्ञायते, मदनश्च रतिगुणविलासपताकादिशास्त्रादुत्कटो भवति, तैः एतैः कृत्वा चेतः कलुषयतां शास्त्राणां श्रुतिर्दुश्रुति र्भवति ॥ ७९ ॥

अन्वयः- अवधीनां श्रुतिः दुःश्रुतिः भवति। कथं भूतानां अवधीनाम् आरम्भसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः चेतः कलुषयताम्।

निरुक्तिः--आरम्भश्च संगश्च साहसश्च मिथ्यात्वं च द्वेषश्च रागश्च मदश्च मदनं च इति, तैः। दुष्टा च असौ श्रुतिः दुःश्रुतिः॥

१-अवधीयते शिष्यते वस्तु अवधयः शास्त्राणि तेषाम्।

२-कलुषं कुर्वन्तीति कलुषयन्ति "मृदो ध्वर्थे णिज् बहुलम्" २।१।२८ इति णिच् "तदन्ता धवः" २।१।४४ इति धु संज्ञा तत शतृ त्यः पुनः "ताशेषे" १।४।६८ अनेन आम् विभक्तौ।

३-शृण्वन्ति अनयेति श्रुतिः "श्रुस्त्विष् यजः करणे" २।३।८२ अनेन करणकारके क्तिः।

अर्थ—ऐसे शास्त्रोंके सुननेको दुःश्रुति, अनर्थदण्ड कहते हैं (कैसे हैं शास्त्र ?) जो आरम्भ संग साहस मिथ्यात्व द्वेष राग मद और मदन (काम) इनके कथन कर चित्तको कलुषित करनेवाले हों ॥ ७९ ॥

अधुना प्रमादचर्यास्वरूपं निरूपयन्नाह -

प्रमादचर्या अनर्थदण्डका लक्षण बताते हैं—

क्षितिसलिलदहनपवना-रम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं
सरणं सारणमपि च, प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ।८०।

'प्रभाषन्ते' प्रतिपादयन्ति । कां ? प्रमादचर्याम्' । किं तदित्याह 'क्षितीत्यादि । क्षितिश्च सलिलं च दहनश्च पवनश्च तेषामारम्भं क्षितिखनन-सलिलप्रक्षेपण-दहनप्रज्वालन-पवनकरणलक्षणम् । किं विशिष्टं ? 'विफलं' निष्प्रयोजनं । तथा 'वनस्पतिच्छेदं' विफलं । न केवलमेतदेव किन्तु, 'सरणं' 'सारणमपि च' सरणं स्वयं निष्प्रयोजनं पर्यटनं, सारणमन्यस्य निष्प्रयोजनं गमनप्रेरणम् ॥७९॥

अन्वयः—आचार्याः विफलं क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते, आचार्याः विफलं वनस्पतिच्छेदं प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते, आचार्याः विफलं सरणं प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते, आचार्याः विफलं सारणं प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥

निरुक्तिः क्षितिश्च सलिलं च दहनं च पवनं च इति

१-प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदन-भूमिकुट्टन-सलिलसेचनवधकर्म प्रमादचरितमिति कथ्यते ।

क्षितिसलिलदहनपवनानि । तेषाम् आरम्भः इति क्षितिसलिलदहन-पवनारम्भः तम् । प्रमादस्य चर्या प्रमादचर्या ताम् वनस्पतीनां छेदः वनस्पतिच्छेदः तम् ॥ ८० ॥

अर्थ—आचार्य, निष्फल क्षिति आरम्भ, सलिलारम्भ, दहनारम्भ, पवनारम्भको प्रमादचर्या कहते हैं तथा व्यर्थ वनस्पतिके छेदनेको तथा निष्फल गमन करनेको निष्फल चलानेको प्रमादचर्या कहते हैं ॥ ८० ॥

एवमनर्थदण्डविरतिव्रतं प्रतिपाद्येदानीं तस्यातीचारानाह,–

अनर्थदण्डव्रतके अतीचार कहते हैं

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च ।
असमीक्ष्य चाधिकरणं, व्यतीतयोऽनर्थदण्ड-
कृद्विरतेः ॥ ८१ ॥

व्यतीतयोऽतीचारा भवन्ति । कस्य ? अनर्थदण्डकृद्विरतेः अनर्थं निष्प्रयोजनं दण्डं दोषं कुर्वन्तीत्यनर्थदण्डकृतः पापोपदेशादयस्तेषां विरतिर्यस्य तस्य । कति ? पञ्च । कथमित्याह-कन्दर्पेत्यादि,

---

१–चर्यते इति चर्या चर गतिभक्षणयोः, धोः "चरे" २।१।१०७ इति यः त्यः । स्त्रीत्वे टाप् । अथवा "चरुसुर्णः" २।३।६७ अत्र सूत्रे पदौ इत्यस्य अनुवृत्तेरविविक्षितस्वपक्षे यः त्यः ।

२–छे च ४।३।६६ इति तुगागमः, स्तोः श्चुना श्चुः ५।४।१२८ अनेन च तस्य चकारादेशः ।

रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रो भण्डिमाप्रधानो वचनप्रयोगः कंदर्पः। प्रहासो भण्डिमावचनं, भंडिमोपेतकायव्यापारप्रयुक्तं कौत्कुच्यं, धाष्टर्यप्रायं बहुप्रलपित्वं मौखर्यं, यावतार्थेनोपभोगोपरिभोगौ भवतस्ततोऽधिकस्य करणमतिप्रसाधनम्। एतानि चत्वारि असमीक्ष्याधिकरणं पञ्चमम् असमीक्ष्य प्रयोजनमपर्यालोच्य आधिक्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणम् ॥८१॥

अन्वयः— अनर्थदण्डकृद्विरतेः पञ्च व्यतीतयः कथ्यन्ते। के ते पञ्च? कंदर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यम् अतिप्रसाधनं च असीमक्ष्य अधिकरणम्।

निरुक्तिः—कम् [इति क्रिः] कुत्सितो दर्पः कन्दर्पः। मुखरस्य कर्म भावो वा मौखर्यं वाचालता। अनर्थो व्यर्थो दण्डो दण्डनमिति अनर्थदण्डः। तं करोति विदधातीति अनर्थदण्डकृत्। अत्र 'क्विप्' ३।२।७४ इति क्विप् तुगागमश्च। तस्माद्विरतिः त्यागो यस्य स अनर्थदण्डकृद्विरतिः तस्य तथा। न समीक्ष्य विचार्य इति असमीक्ष्य। अधि कं करणम् अधिकरणम् अधिकारः ॥ ८१ ॥

अर्थ—अनर्थदण्ड विरतिके पांच अतीचार कहे हैं। कौनसे हैं वे पांच? कन्दर्प (रागकी प्रबलतासे प्रहास्य मिश्रित भंड वचनोंका बोलना) १, कौत्कुच्य (हास्य और भंड वचन सहित कायसे कुत्सित चेष्टा करना) २ मौखर्य (धीटतासे ज्यादा बकवाद करना) ३ अतिप्रसाधन (भोगोपभोगकी चीजोंको आवश्यकतासे ज्यादा

रखना) ४ असमीक्ष्य अधिकरण (विना विचारे काम करना अथवा किसी वस्तुपर अधिकार कर लेना) ५ ॥ ८१ ॥

साम्प्रतं भोगोपभोगपरिमाणलक्षणं गुणव्रतमाख्यातुमाह—

भोगोपभोगपरिमाणव्रत गुणव्रतका लक्षण कहते हैं—

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्
अर्थवतामप्यवधौ, रागरतीनां तनूकृतये ॥८२॥

भोगोपभोगपरिमाणं' भवति । किं तत्? 'यत्परिसंख्यानं' परिगणनं । केषाम्? 'अक्षार्थाना' मिन्द्रियविषयाणां । कथंभूताना-मपि तेषां । अर्थवतामपि सुखादिलक्षणप्रयोजनसंपादकानामपि अथवाऽर्थवतां सग्रन्थानामपि श्रावकाणाम् । तेषां परि-संख्यानं किमर्थं? 'तनूकृतये' कृशतरत्वकरणार्थम् । कासां? 'रागरतीनां' रागेण विषयेषु रागोद्रेकेण रतयः आसक्तयस्तासाम् । कस्मिन् सति? अवधौ विषयपरिमाणे ॥ ८२ ॥

अन्वयः-अवधौ अपि अर्थवताम् अक्षार्थानां परिसंख्यानं, भोगोपभोगपरिमाणं भवति । कस्यै सिद्धये? रागरतीनां तनूकृतये ।

निरुक्तिः—अक्षानाम् अर्था अक्षार्थाः तेषां अक्षार्थानाम् । भोगश्च उपभोगश्च भोगोपभोगौ, भोगोपभोगयोः परिमाणम् इति भो-गोपभोगपरिमाणम् । अर्थः प्रयोजनं विद्यते येषु ते अर्थवन्तः तेषां मर्थवताम् । रागेण रतयः इति रागरतयः तासां रागरतीनाम् । अतनुः

तनुः क्रियते इति तनूकृतिः । 'कृभ्वस्तियोगेऽसम्पद्यकर्तरि च्विः' ४।२।६७ इति च्विः । तस्य च खम् । "दीर्घश्च्यङ्कृदूगे" ५।२। १४८ इति दीत्वम् । तस्यै तथा सूक्ष्मकरणाय इत्यर्थः ॥ ८२ ॥

अर्थ-दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर भी प्रयोजन भूत इन्द्रियोंके विषयोंकी मर्यादा कर लेना-गिनती कर लेना सो भोगोपभोग परिमाण व्रत है। किसकी सिद्धिके लिये? विषयोंमें रागभावका उद्रेक होनेसे जो अधिक आसक्ति होती है उसको घटानेके लिये-कम करनेके लिये ॥८२॥

अथ को भोगः कश्चोपभोगो यत्परिमाणं क्रियते इत्याशङ्क्याह —

भोग वस्तु क्या है? उपभोग वस्तु क्या है? जिनका परिमाण किया जावे? इसका उत्तर कहते हैं।

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः
उपभोगोऽशनवसन प्रभृतिःपाञ्चेन्द्रियो विषयः।

'पंचेन्द्रियाणामयं' पाञ्चेन्द्रियः विषयः । 'भुक्त्वा परिहातव्य'-स्त्याज्यः स भोगोऽशनपुष्पगन्धविलेपनप्रभृतिः । यः पूर्वं भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः स उपभोगो वसनाभरणप्रभृति, वसनं वस्त्रम् ॥

अन्वयः—यः पाञ्चेन्द्रियः विषयः भुक्त्वा परिहातव्यः सः भोगः भवति । तथा यः पाञ्चेन्द्रियविषयः भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः भवति सः उपभोगः भवति । यथा अशनवसनप्रभृतिः ॥

१-२-ओहाक् त्यागे धोः भुजो रक्षाशनयोः, आभ्याम् "तव्यानीयौ" २।१।१०२ इति तव्यः ।

निरुक्तिः-परिहातुं योग्यः परिहातव्यः। भोक्तुं योग्यः भोक्तव्यः। अशनं च वसनं च अशनवसने। अशनवसने प्रभृतिः यस्य सः अशनवसनप्रभृतिः। पञ्चेन्द्रियाणाम् अर्थः पाञ्चेन्द्रियः॥

अर्थ-जो पांचो इन्द्रियोंके विषयोंको भोगकर छोड़ दिये जाय पुनः वही वस्तु दूसरी बार भोगी न जाय सो भोग है। और जो पांचो इन्द्रियोंके विषय भोगकर वही वस्तु बार बार भोगनेमें आवे सो उपभोग है। जैसे अन्न पान आदि भोग और वस्त्र भूषण आदि उपभोग हैं॥ ८३॥

मद्यादिभोगरूपोऽपि त्रसजन्तुवधहेतुत्वादणुव्रतधारिभिस्त्याज्य इत्याह-

अणुव्रतियोंको जो भोग वस्तु यावज्जीव ही त्यागने योग्य है उनके नाम बताते हैं-

---

१-भोगसंख्यानं पंचविधं त्रसघातप्रमादबहुवधाऽनिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्।

मधुमांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रतिनिवृत्तचेतसा। २-मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंगमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहाय अनुष्ठेयम्। ३-केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि शृङ्गबेरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि च एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान्। ४-यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं। ५-न ह्यसति अभिसन्धिनियमे व्रतमितोष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेशाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यः। इति श्रीचामुण्डरायकृतचारित्रसारः।

त्रसहतिपरिहरणार्थं, क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपयातैः ८४

वर्जनीयम् । किं तत् ? 'क्षौद्रं' मधु । तथा 'पिशितं । किमर्थं ? 'त्रसहतिपरिहरणार्थं' त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां हतिर्वधस्तत्परिहरणार्थम् । तथा 'मद्यं च' वर्जनीयं । किमर्थं ? 'प्रमादपरिहृतये' माता भार्येति विवेकाऽभावः प्रमादः तस्य परिहृतये परिहरणार्थं । कैरेतद्वर्जनीयम् ? शरणमुपयातैः शरणमुपगतैः । कौ ? जिनचरणौ, श्रावकैस्तत्स्याज्यमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—जिनचरणौ शरणम् उपयातैः पुरुषैः त्रसहतिपरिहरणार्थम् क्षौद्रं पिशितं वर्जनीयम् । च प्रमादपरिहृतये मद्यं वर्जनीयम् ।

निरुक्तिः—त्रसानां हतेः परिहरणमिति त्रसहतिपरिहरणम् । त्रसहतिपरिहरणाय इति त्रसहतिपरिहरणार्थम् । प्रमादस्य परिहृतिः प्रमादपरिहृतिः तस्यै प्रमादपरिहृतये । जिनस्य चरणौ जिनचरणौ ॥ ८४ ॥

१—"व्यस्य वा कर्तरि" १।४।८४ "कर्तृ करणे" १।४।२२ आभ्यां कर्तारिकारके भा (तृतीया) विभक्ती ।

२—अप्रकृतितदर्थार्थादिभिः १।३।२१ इति षसः समासः ।

३—"तादर्थ्ये" १।४।२५ इत्यप् विभक्तौ ।

४—उप पूर्वक या प्रापणे धोः 'द्वि' कर्मकात् धिगत्यर्थाच्च २।४।५५ अनेन कर्तरि क्तः । अतः कर्मकारके द्वितीया द्विवचनम्

शरणमित्यपि कर्म

अर्थ—जिनेश्वर भगवानके दोनों चरणोंका शरण लेने वाले श्रावक त्रस जीवोंकी हिंसाका परित्याग करनेके लिये मधु और मांसको छोड़, और प्रमाद दूर करनेके लिये मद्य पीना छोड़े ॥ ८४ ॥

तथैतदपि तैस्त्याज्यमित्याह—

तथा इनको भी यावज्जीव त्यागे ऐसा बताते हैं—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि
नवनीतनिम्बकुसुमं, कैतकमित्येवमवहेयम् ।८५।

अवहेयम् त्याज्यं । किं तत् ? 'मूलकं' । तथा 'शृङ्गवेराणि'-आर्द्रकाणि । किं विशिष्टानि ? 'आर्द्राणि,अशुष्कानि (अपक्वानि) तथा नवनीतनिम्बकुसुममित्युपलक्षणं सकलकुसुमविशेषाणां, तेषां, कैतकं केतक्या इदं कैतकम् गुधगा इत्येवं, इत्यादि सर्वमवहेयम् कस्मात् 'अल्पफलबहुविघातात्' अल्पं फलं यस्यासावल्पफलः, बहूनां त्रसजीवानां विघातो विनाशो बहुविघातः, अल्पफलश्चासौ विघातश्च तस्मात् ॥ ८५ ॥

अन्वयः—अल्पफलबहुविघातात् मूलकं च आर्द्राणि शृङ्गवेराणि च नवनीतनिम्बकुसुमम्, अपि कैतकम् इति एवं अवहेयम् ।

निरुक्तिः—अल्पं फलं यस्मिन् यस्माद्वा सः अल्पफलः । बहूनां विघातः यत्र स बहुविघातः, अल्पफलश्चासौ बहुविघातः इति

१—'आर्द्रकं शृङ्गवेरं स्यात्' इत्यमरः । शृङ्गमिव वेरं शरीरमस्य

अल्पफलबहुविघातः तस्मात् अल्पफलबहुविघातात् । नवनीतं च निम्बकुसुमं च अनयोः समाहारः नवनीतनिम्बकुसुमम् ॥८५॥

अर्थ—जिसमें लाभ थोड़ा और बहुत प्राणियोंका घात होवे ऐसे मूली तथा गीले अदरकका और मक्खन नीमके फूलोंका तथा केवड़े आदिके फूलोंका त्याग करे, न खावे ॥८५॥

प्रासुकमपि यदेवंविधं तत्त्याज्यमित्याह—

प्रासुक भी है तो भी इनका त्याग करे।

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्, यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति

'यदनिष्टम्' उदरशूलादिहेतुतया प्रकृतिसात्म्यकं यन्न भवति 'तद्व्रतयेत्' व्रतं निवृत्तिं कुर्यात् त्यजेदित्यर्थः । न केवलमेतदेव व्रतयेदपि तु 'यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्' यच्च यदपि गोमूत्र-करेणु-दुग्ध-शंखचूर्ण-ताम्बूलोद्गल-लाला मूत्र-पुरीष-श्लेष्मादिकमनुपसेव्यं प्रासुकमपि शिष्टलोकानां स्वादनायोग्यं एतदपि जह्यात् व्रतं कुर्या-

---

१ आर्द्रकस्य नामनी । आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं तिमितं स्तिमितं समुन्नमुत्तं च इत्यमरः, आर्द्राणि क्लिन्नानि । गीला अदरक । यहांपर शृङ्गवेर अदरकका नाम कहा है और उसका आर्द्र विशेषण है इससे गीले (हरे) अदरकका त्याग कराया है । उपलक्षण से गीली हल्दी आदि भी अभक्ष्य है ।

त् । कुत एतदित्याह--'अभिसन्धीत्यादि' अनिष्टतया अनुपसेव्य-तया च व्यावृत्तेर्योग्याद्विषयादभिसन्धिकृताऽभिप्रायपूर्विका या वि-रतिः सा यतो व्रतं भवति ॥ ८६ ॥

अन्वयः--यत् अनिष्टं तत् व्रतयेत् यत् च अनुपसेव्यं तत् अपि जह्यात् योग्यात् विषयात् अभिसन्धिकृता विरतिः व्रतं भवति ॥ ८६ ॥

निरुक्तिः-न इष्टं अनिष्टं। न उपसेव्यं अनुपसेव्यं। अभिसंध्या अभिसंधानेन अभिप्रायेण-उद्देश्येन कृता अभिसन्धिकृता ॥

अर्थ--जो वस्तु अपनेको अनिष्ट अप्रिय है रोगादिक बढानेवाली है उसको त्याग देना चाहिये। जो अनुप-सेव्य है वह भी छोडना चाहिये क्योंकि योग्य विषयोंका अभिप्राय पूर्वक त्याग करना सो व्रत है ॥८६॥

तच्च द्विधा भिद्यत इति--

वह भोगोपभोग संहार दो प्रकारका है ऐसा बताते हैं--

नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्
नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते ।

भोगोपभोगसंहारात् भोगोपभोगयोः संहारात् परिमाणात् [illegible] । द्वेधा विहितौ द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्वेधा व्यवस्थापितौ ।

१-श्रीहरत् [illegible] "[illegible] [illegible]" ४।३।१५२ इति [illegible] । "[illegible] [illegible]" ४।३।१२ इति [illegible] ।

कौ ? नियमो यमश्चेत्येतौ । तत्र को नियमः कश्च यम इत्याह—नियमः परिमितकालो वक्ष्यमाणः परिमितः कालो यस्य भोगोपभोगसंहारस्य स नियमः । यमश्च यावज्जीवं ध्रियते ।

अन्वयः—भोगोपभोगसंहारे नियमः च यमः द्वेधा विहितौ, तत्र यः परिमितकालः ध्रियते सः नियमः । यश्च यावज्जीवं ध्रियते सः यमः भवति ॥ ८७ ॥

निरुक्तिः—भोगश्च उपभोगश्च इति भोगोपभोगौ भोगोपभोगयोः संहारः इति भोगोपभोगसंहारः तस्मिन् भोगोपभोगसंहारे । परिमितः संख्यातः कालो यस्य सः परिमितकालः । जीवनपर्यन्तम् इति यावति जीवतीति वा यावज्जीवम् ॥८७॥

अर्थ—भोग और उपभोगके न्यून करनेके लिये (निमित्त) यम और नियम ऐसी दो विधि होती हैं। तिनमें जो परिमित कालकी विधि है वह नियम है और यावज्जीवकी विधि है वह यम है ॥ ८७ ॥

१–नियच्छति उपरमति अनेन, नियमनं वा नियमः । [illegible] उपरमे निपूर्वात् "यमः समुपनिविषु च" । ३।३।६३ इति अप् [illegible] ।

२–तस्यैव यच्छति उपरमति अनेन यमनं वा यमः ।

३–[illegible] 'यावद्' [illegible] इति [illegible] । यावत् जीवतीति यावज्जीवम् "[illegible]" ३।४।३० इति [illegible] । [illegible] ।

४–अत्र हेतौ तृतीया [illegible] इति [illegible] ।

तत्र परिमितकाले तत्संहारलक्षणनियमं दर्शयन्नाह—

नियमकी विधि बताते हैं—

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥८८॥
अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्त्तुरयनं वा
इति कालपरिच्छित्त्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ।

युगल । नियमो भवेत् । किंतत् ? प्रत्याख्यानं । कया ? कालपरिच्छित्त्या । तामेव कालपरिच्छित्तिं दर्शयन्नाह– 'अद्येत्यादि' अद्येति प्रवर्तमानघटिकाप्रहरादिलक्षणकालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानम् तथा दिवेति रजनी रात्रिरिति वा । पक्ष इति वा । मास इति वा । ऋतुरिति वा मासद्वयं । अयनमिति वा षण्मासाः । इत्येवं कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानम् । केष्वित्याह--'भोजनेत्यादि' भोजनं च, वाहनं च घोटकादि, शयनं च पल्यङ्कादि, स्नानं च, पवित्राङ्गरागश्च पवित्रश्चासावङ्गरागश्च कुंकुमादिविलेपनम् । उपलक्षणमेतदञ्जनतिलकादीनां पवित्रविशेषणं । रोगापनयनार्थं तेनौषधाद्यङ्गरागो निरस्तः । कुसुमानि च तेषु विषयभूतेषु । तथा ताम्बूलं च वसनं च वस्त्रं, भूषणं च कटकादि, मन्मथश्च कामसेवा, संगीतं च गीतनृत्यवाद्यत्रयं, गीतं च केवलं नृत्यवाद्यरहितम् । तेषु च विषयेषु अद्येत्यादिरूपं कालपरिच्छित्त्या यत्प्रत्याख्यानं स नियम इति व्याख्यातम् ॥ ८८--८९ ॥

अन्वयः—इति कालपरिच्छित्त्या भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ताम्बूलवशनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु प्रत्याख्यानं नियमः भवेत्। इतीति किम्? अद्य दिवा रजनी वा पक्षः मासः, तथा ऋतुः वा अयनम्।

निरुक्ति--भोजनं च वाहनं च शयनं च स्नानं च पवित्राङ्गरागश्च कुसुमं च इति भोजनवाहनशयनस्थानपवित्रांगरागकुसुमानि, तेषु तथा। ताम्बूलं च वसनं च भूषणं च मन्मथं च संगीतं च गीतं चेति ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतानि तेषु तथा। ८९॥

अर्थ–इस प्रकार कालका (समयोंका) प्रमाण कर भोजन (भोज्य वस्तुओंका) १, वाहन (रथ घोड़ा पालकी आदि सवारी) २, शयन (खाट पलंग गद्दा तकिया तोषक रजाई आदि) ३, स्नान (गर्म जल या इतना जल चौकी आदि साधन) ४, पवित्र ङ्गराग (उबटना साबुन तेल अतर फुलेल आदि सुगन्ध वस्तुओंका लगाना आदि) ५, कुसुम (पुष्पमाला सेहरा पहनना गुलदस्ताका ग्रहण करना आदि) ६, ताम्बूल (पान इलाइची जावित्री आदि सुगन्ध सुस्वादु वस्तुओंका जो भोजनके अनन्तर खाई जाती हैं) ७, वसन (वस्त्र धोती चादर रेशमी सूती तथा उपानत् पाग टोपी अगरखा आदि शिरोपाव) ८, भूषण (तगडी बाजू कंकण कुण्डल मुकुट हार मुद्रिका सुवर्णमयी वा रत्नजडित आदि) ९, मन्मथ (स्त्री भोग) १०, संगीत (नृत्य बाजा गायन सहित रागोंका सुनना, नाटक देखना कौतूहलवर्धक

रूपोंका देखना आदि) ११, गीत (स्त्रियोंके गीत-वसन्त राग बारामासा आदि) १२, इनका प्रत्याख्यान (त्याग करना) सो भोगोपभोग नियम है । कौनसे कालोंमें प्रत्याख्यान करे ? आजका दिनमें या रात्रिमें-पक्षभरका (पन्द्रह दिनका) महिने दो महीनेका-वसन्त ऋतुका-सरद ऋतु आदि ऋतुओंका--उत्तरायण--छमाहीका, दक्षिणायन छमाही का तथा वर्ष दो वर्ष आदि कालका । भावार्थ--घड़ी दो घड़ी आदि समयका प्रमाण कर इन भोजनादिक १२ भोग्य उपभोग्य चीजोंका त्यागना सो नियम है ॥ ८८-८९ ॥

भोगोपभोगपरिमाणस्येदानीमतीचारानाह--

भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतीचार कहते हैं--

विषयविषतोऽनुपेक्षा-
नुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषाऽनुभवौ ।
भोगोपभोगपरिमा-
व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ ९० ॥

भोगोपभोगपरिमाणस्य व्यतिक्रमा अतीचाराः पञ्च कथ्यन्ते । के ते इत्याह 'विषयेत्यादि' विषय एव विषं प्राणिनां दाहसंतापादिविधायित्वात् तेषु, ततो (वा)ऽनुपेक्षा उपेक्षात्यागस्याभावोऽनुपेक्षा आदर इत्यर्थः । विषयवेदना प्रतीकारार्थो हि विषयानुभवस्तस्मात्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्यत्संभाषणाऽऽलिङ्गनाद्यादरः सोऽत्यासक्ति

जानकत्वादतीचारः । अनुस्मृतिरनदनुभवात्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्विषयाणां सौंदर्यसुखसाधनत्वादनुस्मरणमत्यासक्तिहेतुत्वादतीचारः । अतिलौल्यमतिगृद्धिस्तत्प्रतीकारे जातेऽपि पुनः पुनस्तदनुभवाकांक्षेत्यर्थः । अतितृषा भाविभोगोपभोगादेरतितृष्णा प्राप्त्याकांक्षा । अत्यनुभवो नियतकालेऽपि यदा भोगोपभोगोऽनुभवति तदाऽत्यासक्त्यानुभवति न पुनर्वेदनाप्रतीकारतयाऽतोऽतीचारः ॥ ९० ॥

इति प्रभाचन्द्र विरचितायां समन्तभद्रस्वामि विरचितोपासकाध्ययनटीकायां चतुर्थपरिच्छेदः ॥ ३ ॥

अन्वयः—आचार्यैः भोगोपभोगपरिमा व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते । के ते पञ्च ? विषयविषतः अनुपेक्षा, अनुस्मृतिः अतिलौल्यम् अतितृषाऽनुभवौः ।

निरुक्तिः — विषयः एव विषम् विषयविषं तस्मिन् वा तस्मात् विषयविषतः । न उपेक्षा अनुपेक्षा । भोगश्च उपभोगश्च भोगोपभोगौ तयोः परिमो, इति भोगोपभोगपरिमा भोगोपभोगपरिमः व्यतिक्रमा, इति भोगोपभोगपरमाव्यतिक्रमाः ॥

---

१ ञितृषा पिपासायामिति "भिद्विदृषादिभ्योऽङ् २।३।१०१ अनेन अङ् त्यः, ततः टाप् । तृषा च अनुभवश्चेति तृषानुभवौ अतिशयितौ तृषानुभवौ इति तथा अति तृषा अत्यनुभवः इति द्वौ । २–परिमिमोते परिमीयते वा अनेन चेति—परिपूर्वक माङ्माने धोः "क्विप्" २।२।७४ अनेन क्विप् त्यः । परिमा इति आकारान्तः शब्दः ।

अर्थ–आचार्य, भोगोपभोगपरिमाण गुण व्रतके पांच अतीचार कहते हैं। वे कौनसे? इन्द्रियोंके भोगोपभोग सामग्री रूपी जहरसे तिरस्कार न करना (ममत्व न हटाना) १, भुक्त और उपभुक्त सामग्रीका चिन्तवन करना २, त्यागे हुये पदार्थोंमें मर्यादाके पीछे बहुत गृद्धताके साथ सेवन करना ३, आगे पीछेके समयमें उसको अधिक तृष्णासे काममें लाना ४, पदार्थके विना ही मनके द्वारा भोग ही रहा हूं ऐसा अनुभव करना ॥ ५ ॥ ९० ॥

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गौरीलालसिद्धांतशास्त्रिणा निरुक्तायां पञ्जिकायां हिन्दी भाषायां च गुणव्रतवर्णनो नाम चतुर्थ परिच्छेदः
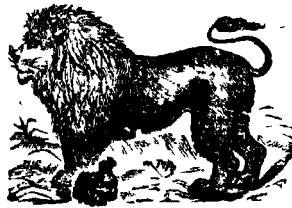
शिक्षाव्रताधिकारश्चतुर्थः

सम्प्रतं शिक्षाव्रतस्वरूपप्ररूपणार्थमाह—

शिक्षा व्रतोंके नाम—

देशावकाशिकं वा, सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्यं शिक्षा-व्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥९१॥

शिष्टानि प्रतिपादितानि। कानि? शिक्षाव्रतानि। कति? चत्वारि कस्मात्? देशावकाशिकमित्यादिचतुःप्रकारसद्भावात्। वाशब्दोऽत्र परस्परप्रकारसमुच्चये। देशावकाशिकादीनां लक्षणं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति ॥९१॥

अन्वयः-आचार्यैःचत्वारि शिक्षाव्रतानि शिष्टानि। कानि चत्वारि? देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासः वा वैयावृत्यम्॥

निरुक्तिः-प्रोषधश्चासौ उपवासः प्रोषधोपवासः। व्यावृत्तेः कर्म भावो वा वैयावृत्यम्।

अर्थ-आचार्योंने चार शिक्षाव्रत उपासकाध्ययन में कहे हैं। (कौनसे वे चार?) जो कि, देशावकाशिक

१-"शासु अनुशिष्टौ" अदादि धोः क्तः त्यः। पुनः "शासोऽङ् हलोः" ६।४।३४ इति इदादेशः "शास् वसघसाम्" ८।३।६० इति मुर्धन्यषकारादेशः ष्टुत्वादिः

१ सामायिक २ प्रोषधोपवास ३ और वैयावृत्य ४ ॥९१॥

तत्र देशावकाशिकस्य तावाल्लक्षणमाह—

देशावकाशिक शिक्षाव्रतका लक्षण कहते हैं—

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां,प्रतिसंहारो विशालस्य ॥९२॥

देशावकाशिक देशे मर्यादीकृतदेशमध्येऽपि स्तोकप्रदेशेऽवकाशो नियतकालमवस्थानं सोऽस्त्यस्तीति देशावकाशिकं शिक्षाव्रतं स्यात् । कोऽसौ ? प्रतिसंहारो व्यावृत्तिः । कस्य ? देशस्य । कथंभूतस्य ? विशालस्य बहोः । केन ? कालपरिच्छेदनेन दिवसादिकालमर्यादया । कथं ? प्रत्यहं प्रतिदिनम् । केषां ? अणुव्रतानाम् अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषां तेषां श्रावकाणामित्यर्थः ॥९२ ॥

अन्वयः—अणुव्रतानां प्रत्यहं कालपरिच्छेदनेन विशालस्य देशस्य प्रतिसंहारो देशावकाशिकं स्यात् ॥

निरुक्तिः—देशस्य अवकाशः देशावकाशः अथवा देशश्चासौ अवकाशः देशावकाशः । देशावकाशे भवो देशावकाशिकम् । कालस्य परिच्छेदः कालपरिच्छेदः तेन । अहः अहः प्रति इति प्रत्यहम् अणूनि व्रतानि येषां ते अणुव्रताः तेषाम् ॥

१—ठक् हत् यः । २—"भिः सुप् व्य १।३।५ इत्यादिना हसे कृते "राजाहः सखेष्टः ४।२।११५ इति सान्तटत्वः "टखेऽह्नः ४।।१४७ अनेन टिसंज्ञ कस्य अनः खम् । पुनः "ईपः" १।४।१७२ अनेन अहन् शब्दस्य ङेः अमादेशः । प्रत्यहं प्रतिदिनमित्यर्थः ।

अर्थ—अणुव्रती श्रावकोंको प्रतिदिन कालकी मर्यादा कर बड़े देशका संकोच करना (घटाना) सो देशावकाशिक शिक्षाव्रत है ॥ ९२ ॥

अथ देशावकाशिकस्य का मर्यादा इत्याह—

देशावकाशिक शिक्षाव्रतके क्षेत्रकी मर्यादा बताते हैं—

गृहहारिग्रामाणां, क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।
देशावकाशिकस्य, स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥

तपोवृद्धाश्चिरन्तनाचार्या गणधरदेवादयः सीम्नां स्मरन्ति मर्यादाः प्रतिपाद्यन्ते । सीम्नामित्यत्र "स्मृत्यर्थदयेशां कर्म" इत्यनेन षष्ठी । केषां सीमाभूतानां ? 'गृहहारिग्रामाणां हारिः'-कटकं । तथा 'क्षेत्रनदी दावयोजनानां च' दावो वनं । कस्यैतेषां सीमाभूतानां ? देशावकाशिकस्य देशनिवृत्तिव्रतस्य ॥९३॥

अन्वयः — तपोवृद्धाः गृहहारिग्रामाणां च क्षेत्रनदीदावयोजनानां देशावकाशिकस्य सीम्नां स्मरन्ति ॥

निरुक्तिः—तपोभिः वृद्धाः तपोवृद्धाः । गृहं च हारी च ग्रामं च

१—'स्मर्थोदयेशां कर्म' १।४।६६ इति कर्मकारके ता विभक्ती ।

२—हारि शब्द इकारान्त तथा इन्नन्त भी है । इसका अर्थ मनोहर दर्शनीय स्थान है । जहांका जल वृक्षावलि नोभरने पर्वत पवन आदि कोई भी वस्तु रोगनाशक या मनोहारी हो उस स्थानको हारि कहते हैं । तथा जहांपर कृषक लोक, भूषा और

इति गृहहारिग्रामाः तेषाम्। क्षेत्रं च नदी च दावं च योजनं च इति क्षेत्रनदीदावयोजनानि तेषाम्।

अर्थ—गणधरदेवने गृह-घर सेनाका पड़ाव (छावनी) ग्राम क्षेत्र नदी वन और योजन-इतने योजन दूर तक, इनको देशावकाशिक शिक्षाव्रतकी सीमा बताई है। स्मरण की है।

एवं द्रव्यावधिं योजनावधिं चास्य प्रतिपाद्य कालावधिं प्रतिपादयन्नाह-

देशावकाशिककी काल मर्यादाओंको कहते हैं—

संवत्सरमृतुमयनं, मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य, प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः॥९४॥

देशावकाशिकस्य कालावधिं कालमर्यादां प्राहुः। प्राज्ञाः गणधरदेवादयः। किं तदित्याह 'संवत्सरमित्यादि' संवत्सरं यावदेतावत्येव देशे मयाऽवस्थातव्यम् तथा ऋतुरयनं वा यावत्। तथा मासचतुर्मासपक्षं यावत्। ऋक्षं च चन्द्रभुक्त्या आदित्यभुक्त्या वा इदं नक्षत्रं यावत्।

अन्नको भिन्न करते हैं अथवा जहां एक हो स्वामीके अनेक खेत हों गोचरभूमि हो उनको हारि कहते हैं। आगरा प्रान्तमें जिसको हार कहते हैं। जैसे इस समय चौधरी हारमें हैं गायें हारको गईं हैं इत्यादि वाक्योंमें हार शब्द बोला जाता है।

१—योजनप्रमाणं क्षेत्रं योजनम्। "योजनप्रमाणमस्येति योजनमात्रम्" पुनः "उन्माने" ३।४।२०२ इति मात्रट् स्यस्य उप। एतावद् योजनप्रमाणं क्षेत्रं पर्यन्तमित्यर्थः।

अन्वयः-प्राज्ञाः संवत्सरम् ऋतुः अयनं मासचतुर्मासपक्षं च ऋक्षं देशावकाशिकस्य कालावधिं प्राहुः ॥ ९४ ॥

निरुक्तिः-मासश्च चतुर्मासश्च पक्षश्च एषां समाहारः मासचतुर्मासपक्षम्। कालस्य अवधिः कालावधिस्तम् तथा।

अर्थ-विद्वान् श्रुतज्ञानी, संवत (वर्ष दो वर्ष आदि) ऋतु (वसन्त हेमन्त आदि षड्) अयन (उत्तरायण दक्षिणायन दो, सूर्यगमन) मास (महिना) चतुर्मास (वर्षाकाल शीतकाल उष्णकाल) पक्ष (शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष) और ऋक्ष (सप्ताह) इत्यादिक समयों को देशावकाशिक शिक्षाव्रतकी काल मर्यादा कहते हैं ॥ ९४ ॥

एवं देशावकाशिकव्रते कृते सति ततः परतः किं स्यादित्याह--

देशावकाशिक शिक्षाव्रतके होनेपर क्या फल होता है?

१—प्रज्ञा बुद्धिः विद्यते येषु येषां वा ते प्राज्ञाः "प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तेर्णः" ४।१।२३ इति णप्रत्ययः। अथवा प्रकृष्टं प्रकृष्टेन वा जानन्तीति प्रज्ञाः। "गावातो ऽनिक्" २।१।१४०। इति कप्रत्ययः। पुनः प्रज्ञा एव प्राज्ञाः "प्रज्ञादिभ्यः ४।२।५२ अनेन स्वार्थे अण्प्रत्ययः श्रुतकेवलिनः। --उडूनि भानि तारर्क्षं नक्षत्रमिति धनञ्जयः। हम पूर्वमें पच्चीसयोजन क्षेत्रके वाहर तवतक नहीं जावेंगे जबतक कुम्भराशिपर शनैश्चर ग्रह रहैगा। हम अपने नगरसे ग्रामसे परकोटासे परे तबतक व्यापार नहीं करेंगे जबतक आठमा चन्द्रमा है इत्यादिक ऋक्षकाल कहा जाता है।

सीमान्तानां परतः, स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च, महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते॥९५

प्रसाध्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते । कानि ? महाव्रतानि । केन ? देशावकाशिकेन च। न केवलं दिग्विरत्यापि देशावकाशिकेनापि। कुतः ? 'स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्' स्थूलेतराणि च तानि हिंसादिलक्षणपञ्चपापानि च तेषां सम्यक् त्यागः। क्व ? 'सीमान्तानां परतः' देशावकाशिकव्रतस्य सीमाभूता ये अन्ता धर्मा गृहादयः संवत्सरादिविशेषाः, तेषां वा अन्ताः पर्यन्तास्तेषां परतः परस्मिन् भागे।

अन्वयः---देशावकाशिकेन महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते । कस्मात् सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्।

निरुक्तः--सीम्नाम्-अवधीनाम्-अन्ताः पर्यन्ता इति सीमान्ताः

१-देशावकाशो विद्यते अस्यासौ देशावकाशिकः। "अतोऽनेकाचः" ४।१।७६ इति ठत्यः । तस्य इकः आदेशः तेन तथा । २-प्र पूर्वक 'साध संसिद्धौ' धोः कर्मणि लट् बहु वचने भत्यः पुनः "गे यक्" २।१।८० इति यक् । प्रकर्षेण साध्यन्ते आचर्यन्ते इति प्रसाध्यन्ते-उपचर्यन्ते इत्यर्थः। ३-परस्मिन् क्षेत्रे परस्यां दिशायां वा परतः "तसेः" ४।१।८१४ इति तस्।

विशेष:—**इससे साक्षात् महाव्रत क्यों नहीं कहे जाते ? इसका उत्तर प्रत्याख्यानतनुत्वात् इस ७१ कारकामें स्पष्ट बता चुके हैं वही उत्तर यहां समझना । इसी प्रकार अन्य सामायिकादि शिक्षाव्रतोंमें जानना ।**

तेषाम् । स्थूलानि च इतराणि च यानि पञ्चपापानि इति स्थूलेतर-पञ्चपापानि । तेषां संत्यागः इति स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागः । तस्मात् ।

अर्थ—देशावकाशिक शिक्षाव्रती श्रावक (अपने अणुव्रतोंको) महाव्रत सिद्ध कर लेते हैं क्योंकि देशावकाशिक शिक्षाव्रत की की हुई जो क्षेत्र सीमा तथा काल सीमा उनके परे (बाहरके क्षेत्रोंमें उतने कालतक) स्थूल तथा सूक्ष्म हिंसा आदि पांचों पापोंका परित्याग हो जाता है इससे।

इदानीं तदतिचारान् दर्शयन्नाह—

देशावकाशिक शिक्षाव्रतके अतीचार बताते हैं।

प्रेषणशब्दानयनं, रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य, व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥

अत्यया अतीचाराः। कस्य ? देशावकाशिकस्य देशविरतेः। कति ? पञ्च व्यपदिश्यन्ते कथ्यन्ते। के ते इत्याह—'प्रेषणेत्यादि' मर्यादीकृते देशे स्वयं स्थितस्य ततो बहिरिदं कुर्विति विनियोगः प्रेषणं। मर्यादीकृतदेशाद् बहिर्व्यापारं कुर्वतः कर्मकरान् प्रति खातकरणादिः शब्दः। तद्देशाद्बहिः प्रयोजनवशादिदमानयेत्याज्ञापनमानयनं। मर्यादीकृतदेशे स्थितस्य बहिर्देशे कर्म कुर्वतां कर्मकराणां स्वविग्रहप्रदर्शनं रूपाभिव्यक्तिः। तेषामेव लोष्ठादिनिपातः पुद्गलक्षेपः ॥ ९६ ॥

अन्वयः—अर्हद्भिः देशावकाशिकस्य पञ्च अत्ययाः व्यप-

दिश्यन्ते । के ते पञ्च ? प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति-पुद्गलक्षेपौ ॥

निरुक्तिः—प्रेषणं च शब्दं च आनयनं च तेषां समाहारः प्रेषणशब्दानयनम्। रूपस्य अभिव्यक्तिश्च पुद्गलस्य क्षेपश्चेति रूपाभिव्यक्ति पुद्गलक्षेपौ ।

अर्थ--अर्हन्त भगवानने देशावकाशिक शिक्षाव्रत के पांच अतीचार बताये हैं। [कौनसे वे पांच] मर्यादाके बाहर किसी अन्यको काम करनेके लिये भेजना १ खकार मठार आदि शब्दोंसे काममें लगाना २ बुलवाय लेना। मंगवाय लेना ३ अपनी उपस्थितिको प्रकट करना ४ पत्थर कंकर आदि क्षेपना ५ ॥ ९६ ॥

एवं देशावकाशिकरूपं शिक्षाव्रतं व्याख्यायेदानीं सामायिक-रूपं तद्व्याख्यातुमाह—

सामयिक शिक्षाव्रतका लक्षण कहते हैं--

आसमयमुक्ति मुक्तं, पञ्चाघानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः, सामयिकं नाम शंसन्ति ।

सामयिकं नाम स्फुटं शंसन्ति प्रतिपादयन्ति । के ते ? सामयिकाः समयमागमं विन्दन्ति ये ते सामयिका गणधरदेवादयः । किं तत् ? मुक्तं मोचनं परिहरणं यत् तत् सामयिकं । केषां मोचनं ? 'पञ्चाघानां' हिंसादिपंचपापानां । कथम् ? 'आसमयमुक्ति' वक्ष्यमाणलक्षणसमयमोचनम् आसमन्ताद् व्याप्य गृहीतनियमकालमुक्तिं

यावदित्यर्थः। कथं तेषां मोचनम् ? अशेषभावेन सामस्त्येन न पुनर्देशतः। सर्वत्र च अवधेः परभागे अपरभागे च। अनेन देशावकाशिकादस्य भेदः प्रतिपादितः॥ ९७॥

अन्वयः- भो सज्जनाः ! सामयिकाः तं सामयिकं शंसन्ति। तम् कम् ? सर्वत्र च अशेषभावेन पञ्चाघानां मुक्तम्। कथं मुक्तं ? आसमयमुक्ति॥

निरुक्तिः- समयस्य शपथस्य मुक्तिः समयमुक्तिः समयमुक्तेः पर्यन्तमिति आसमय[1]मुक्ति। पञ्च ते अघाः पञ्चाघाः तेषाम्। अशेषश्चासौ भावः अशेषभावः तेन। समयं सिद्धान्तं विदन्ति ते सामयिकाः[2]। समयाय हित सामयिक[3]म्॥

अर्थ -भो सज्जन हो ! सामायिकको जाननेवाले आचार्य उसको सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं। जो कि

१-समयः शपथाचारसिद्धान्तेषु तथा धियि। क्रियाकारे च निर्देशे संकेते कालभाषयोरिति मेदिनी। अत्र समयशब्दः प्रतिज्ञावाचकः। पर्यां पाङ् वहि रञ्चः १।३।० अनेन ह्रसः। पुनः "ह्रश्च" १।४।१०७ इति नप् "ह्रान्" १।४।१६३ अनेन च सुप उप्। २-"तद्वेत्त्यधीते" ३।२।७२ पद्कल्पलक्षणान्ता ख्यानाख्यापिकाक्रतूक्थादेष्ठण् ३।२।७३ इति ठण्। ३-"तस्मै हितेऽराजाचार्याब्राह्मणवृष्णेः" ३।४।७ तथा "तस्मैभृतोऽधीष्टः ३।४।९८ आभ्यां ठण्। पुनः ऐप्। समयेन भृतं समयेन अधीतं समयाय अधीष्टं वा सामयिकम् आत्मनीनमित्यर्थः।

सर्वत्र मर्यादाके भीतर और बाहर मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनासे पांचों पापोंका छोड़ना। किस तरहसे छोड़ना? समयके छूटने तक (प्रतिज्ञाके पूर्ण होने तक)।

'आसमयमुक्ति' अत्र यः समयशब्दः प्रतिपादितस्तदर्थं व्याख्यातुमाह —

"आसमयमुक्ति" इसमें कहा हुआ जो समय पद है उसका स्वरूप [अर्थ] बताते हैं--

मूर्धरुहमुष्टिवासो-बन्धं पर्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा, समयं जानन्ति समयज्ञाः॥

समयज्ञा आगमज्ञाः। समयं जानन्ति। किं तत्? 'मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं'। बन्धशब्दः प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते। मूर्धरुहाणां केशानां बन्ध-बन्ध-कालं समयं जानन्ति। तथा मुष्टिबन्धं वासोबन्धं वस्त्रग्रन्थि पर्यङ्कबन्धनं चापि उपविष्टकायोत्सर्गमपि च स्थानमूर्ध्वकायोत्सर्गं उपवेशनं वा सामान्येनोपविष्टावस्थानमपि समयं जानन्ति॥

अन्वयः —समयज्ञाः मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं समयं जानन्ति। च पर्यङ्कबन्धनं समयं जानन्ति। अपि च स्थानं अथवा उपवेशनं समयं जानन्ति॥

निरुक्तिः—मूर्धरुहश्च मुष्टिश्च वासश्च इति मूर्धरूहमुष्टिवासांसि तेषां बन्धः इति। मूर्धरूहमुष्टिवासोबन्धः तम् तथा। पर्यङ्कस्य बंधन-

(१) बन्धे घञि वा ४। ३। १६१। अनेन विकल्पविधानात् ईपः (सप्तम्याः) उप्।

मिति पर्यंकवंधनम् । समयं जानन्ति ते समयज्ञाः ॥

(१) "आतः कोऽह्वावामः" २ । २ । ३ । "ज्ञाः" २ । २ । ५ इति अन्यतरस्मात् कः त्यः । कालस्य ज्ञातारः ।

विशेष-'सामयिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धि-सूक्ष्म साम्परायययथाख्यातमिति चारित्रम्' इस तत्त्वार्थसूत्रमें जो सामायिक है वह चारित्र है जो महाव्रती अनगारोंके होता है । इहां जो सामयिक है वह शिक्षाव्रत है जो कि अणुव्रती गृहस्थोंके ही होता है । उसीका यहां वर्णन है । समय नाम कालका भी है समय मात्र भी जो भृति-पुष्टि वा विचार अध्ययन उच्चारण चिन्तनसे अपना हित किया जाय सो भी सामायिक है । गृहस्थ लोक प्रत्येक क्रियाके प्रारम्भमें अपने इष्टदेव तीर्थङ्कर अर्हंत परमात्माका नाम लेते हैं । तथा नमस्कार मन्त्र अथवा "णमो अरहंताणं" 'पार्श्वनाथाय नमः' जय भगवानकी, हे वर्धमान स्वामी, भो शान्तिनाथ स्वामी शान्ति करो । गोमटस्वामीकी जय इत्यदि अनेक प्रकारके जयकार नमस्कार आदि वाक्योंको बोलते हैं । पगड़ी टोपी दुपट्टा आदि मस्तकपर धारण करनेसे पहले जब शिरके बालों को सुधारते हैं बांधते हैं तब उपर्युक्त इष्टसाधक जयकार नमस्कारात्मक वाक्योंका स्मरण करते हैं वह भी सामायिक है ।१। अंगड़ाई आनेपर जो भुजाओंको प्रसारते हैं तथा मुख नासिकासे प्रबल उच्छ्वास निश्वास लिया जाता है तब हाथको मुष्टि स्वयं (स्वभावसे) बन्ध जाती है उस समय भी इष्टदेवका नाम लेना चाहिये (लेते हैं) २। जब किसी पुरुषार्थकी

अर्थ–आचार्योंने मूर्धरुहबंधन, मुष्टि बन्धन, वासो-बन्धन इनको समय कहा है और पर्यंक बन्धनको समय

प्राप्तिके लिये वस्त्र पहनते हैं अंगरखाके बन्द बांधते हैं धोवती (अधोवस्त्र = अधोशरीयवस्त्र) वांधते हैं तब भी परमात्माका नाम लेते हैं (लेना चाहिये)। ३। पर्यङ्क नाम पलंग = पलिकाका नाम है 'मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इति अमरकोषसे, बन्धन अर्थ है सम्बन्ध होना। पलंगपर अपने शरीरका सम्बन्ध करना—लेटना। अर्थात् शयनके लिये जब पर्यङ्क (पलंग) पर शय्या करै (करते हैं) तब भी परमात्माका नाम लेवे (लेते हैं)। ४। चलते चलते सवारी खड़ी हो या स्वयं खड़ा हो तब भी इष्टदेवका नाम उच्चारण करै (करते हैं)। ५। जब किसी आसनपर या कुर्सी चौकी पटड़ा या भूमि आदि पर बैठे–विश्राम करै बैठो = विश्राम करो, उस समय भी श्रीवर्धमानस्वामीकी जय आदि इष्ट वाक्योंका उच्चारण करो। ६। इसी प्रकार छींक आवे १ जम्भा (जमाई) आवे तब भी अर्हन्तकी जय इत्यादि इष्ट पदोंको बोले (बोलते हैं) इत्यादि अनेक सामयिकके समय हैं और ये सबसे छोटे हैं। प्रायः सर्व ही धर्मावलम्बी अपने अपने इष्टका स्मरण और नाम लेते हैं। ये सामायिक शिक्षाव्रत करनेके अवसर (समय) हैं।

समय शब्दका अर्थ अवसर भी है यथा—समयः शपथे भाषासंपदोः कालसंविदोः। सिद्धान्ताचारसंकेतनियमावसरेषु च ॥ क्रियाधिकारे निर्देशे च। इति रभसः १।

तथा भाषामें भी समय शब्द अवसर अर्थमें आता है। जैसे

कहा है। स्थानको [खड़े होनेको] तथा उपवेशनको [बैठनेको] भी समय कहा है ॥ ९८ ॥

एवं विधे समये भवत् यत्सामायिकं पञ्चप्रकारपापात् साकल्येन व्यावृत्तिस्वरूपं तस्योत्तरोत्तरा वृद्धिः कर्तव्येत्याहः—

ऊपर बताये हुये समयोंमें कहा गया जो सामायिक उसको तबतक बढ़ाता रहै जबतक पूर्णतासे पांचों प्रकारके पापोंका त्याग न हो जावे। उस सामायिककी उन्नति वृद्धि कैसे क्षेत्रमें होती है ऐसा बताते हैं—

एकान्ते सामयिकं, निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ।९९।

'परिचेतव्यं' वृद्धिं नेतव्यं। किं तत् ? सामायिकं। क्व ? एकान्ते

श्रीलालजीको बोलनेका समय मिलना चाहिये। अवसर मिलना चाहिये ऐसा अर्थ होता है। उसको बैठनेका समय (अवसर) मिला इत्यादि। उसी प्रकार यहां मूर्धरुहवन्ध आदि सामायिक शिक्षाव्रतके अवसर हैं जैसे जिनदत्त मुष्टिवन्धके समय उक्त शिक्षाव्रत करता है अर्थात् जिनदत्तका मुष्टिवन्ध भी सामयिक शिक्षाव्रत करनेका अवसर है इत्यादि। यह स्वल्प सामायिक है। आगे आगे इस समयको इस इस प्रकार बढावे, ऐसा उपदेश ९९ और १०१ संख्याकी कारिकाओंमें स्वयं भगवान समन्त भद्र स्वामी कहते हैं।

स्त्रीपशुपण्डकविवार्जिते प्रदेशे । कथंभूते ? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलतारहिते शीतवातदंशमशकादिबाधावर्जित इत्यर्थः । इत्थंभूते 'एकान्ते' । क्व ? वनेषु अटवीषु, वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद् गिरिगह्वरादिपरिग्रहः । केन चेतव्यं ? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अविक्षिप्ता धीर्यस्यात्मनस्तेन अथवा प्रसन्नाचासौ धीश्च तया कृत्वा आत्मना परिचेतव्यमिति ॥९९॥

अन्वयः—श्रावकेन प्रसन्नधिया वनेषु च वास्तुषु अपि च चैत्यालयेषु निर्व्याक्षेपे एकान्ते सामयिकं परिचेतव्यम् ।

निरुक्तिः-विशेषः आक्षेपः निन्दा उपद्रवो वा व्याक्षेपः । निर्गतः व्याक्षेपो यस्मादिति निर्व्याक्षेपः । तस्मिन् तथा । चैत्यानां जिनबिम्बानामालयः आयतनम् चैत्यालयः । परितः चेतुं योग्यः परिचेतव्यः "परिपूर्वकचिञ चयने धोः" तव्यानीयौ २।१।१०२। इति कर्मणि तव्य त्यः । वर्धनीयम् उन्नेयमित्यर्थः ।

अर्थ—श्रावक प्रसन्न बुद्धिवाला होता हुआ वनोंमें गृहमें अथवा चैत्यालयमें जहां निरुपद्रव एकान्त स्थान हो वहां सामायिकको बढ़ावे ॥ ९९ ॥

इत्थंभूतेषु स्थानेषु कथं तत्परिचेतव्यमित्याह—

कैसे कालमें सामायिक वृद्धि होती है ऐसा बताते हैं—

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ॥१००॥

बध्नीयादनुतिष्ठेत् । किं तत् ? 'सामयिकं' । कस्यां सत्यांविनिवृ-

स्याम् । कस्मात् ? 'व्यापारवैमनस्यात्' व्यापारः—कायादिचेष्टा, वैमनस्यं मनोऽप्रमता चित्तकालुष्यं वा तस्माद्विनिवृत्त्यामपि सत्यां 'अन्तरात्मविनिवृत्त्या' कृत्वा तद्बध्नीयात् ? अन्तरात्मनो विकल्पस्य विशेषेण निवृत्त्या । कस्मिन् सति तस्यां तद्बध्नीयात् ? उपवासे चैकभुक्ते वा ।

अन्वयः — श्रावकः व्यापारवैमनस्यात् विनिवृत्याम् अन्तरात्मविनिवृत्त्या उपवासे वा एकभुक्ते सामयिकं बध्नीयात् ॥

निरुक्तिः—व्यापारश्च वैमनस्यं च अनयोः समाहारः व्यापारवैमनस्यम् । तस्मात् । अन्तरात्मे विनिवृत्तिः इति अन्तरात्मविनिवृत्तिः

अर्थ—श्रावक शरीर आदिकोंकी चेष्टा और मनकी

१—राग द्वेष काम क्रोध आदि औदयिक भाव जीवमें ही होते हैं इसीसे इनको भगवान उमास्वामि आचार्यने मोक्षशास्त्रमें "औपशमिकक्षायकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च ॥२॥ अध्याय ॥२॥ सूत्रमें स्वतत्त्व पदसे कहा है और ये कषाय भाव त्यजनीय हैं इनके त्यागे बिना 'धर्म' नहीं होता तथा ये क्रोधादिक पर्यायें अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं हैं। आत्मामें ही होते हैं इसीसे इनको "अन्तरात्म" कहा है। अथवा ये अन्तर स्वरूप हैं इससे ये अन्तरंग भाव कहलाते हैं। अर्थात् क्रोध मान माया काम और निदान भावोंकी निवृत्तिके निमित्त सामायिकको बढावें। अथवा इन अन्तरात्म भावोंकी निवृत्तिके साथ ही सामायिकको बढावे अर्थात् क्रोधादिक भावोंको घटावे और आत्मीक भावोंको बढावे,यही सामायिकको वृद्धि है।

व्यग्रताको दूर करनेपर अन्तरात्मा सम्बन्धी विकल्पोंको दूर कर उपवासके दिन तथा प्रोषधके दिन सामायिकको बढावे ॥ १०० ॥

इत्थं भूतं तत्किं कदाचित्परिचेतव्यमन्यथा वेत्यत्राह —

ऐसे सामायिकको प्रति दिन भी यथायोग्य करै

सामयिकं प्रतिदिवसं, यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रतपञ्चकपरिपूरण-कारणमवधानयुक्तेन ॥१०१॥

'चेतव्यं' वृद्धिं नेतव्यं । किं ? सामयिकं । कदा ? 'प्रतिदिवसमपि' न पुनः कदाचित् पर्वदिवसे एव । कथं ? यथावदपि प्रतिपादितस्वरूपानतिक्रमेणैव । कथंभूतेन ? 'अनलसेन' ऽऽलस्यरहितेन उद्यतेनेत्यर्थः । तथाऽवधानयुक्तेनैकाग्रचेतसा । कुतस्तदित्थं परिचेतव्यं ? 'व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणं' यतः व्रतानां हिंसाविरत्यादीनां पंचकं तस्य परिपूरणं परिपूरणत्वं महाव्रतरूपत्वं तस्य कारणं यथोक्तसामायिकानुष्ठानकाले हि अणुव्रतान्यपि महाव्रतत्वं प्रतिपद्यन्तेऽतस्तत्कारणम् ॥ १०१॥

अन्वयः—अनलसेन अवधानयुक्तेन अपि श्रावकेन प्रतिदिवसं यथावत् सामयिकं चेतव्यम् । कथभूतं सामयिकम् ? व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणम् ।

निरुक्तिः—दिवसं दिवसं प्रति इति प्रतिदिवसम् । नास्ति अलसो

१—"लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रतो" १।३।११ इति हसः ।

यस्य यस्मिन् वा अनलसः तेन। अवधानेन युक्त. स अवधानयुक्तः तेन। व्रतानां पञ्चकं[१] व्रतपञ्चकम्। व्रतपञ्चकस्य परिपूर्णमिति व्रतपञ्चकपरिपूरणम्। व्रतपञ्चकपरिपूरणे कारणमिति व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणम्॥

अर्थ—आलस रहित ऐसा श्रावक सावधान संयुक्त होता हुआ प्रति दिन यथायोग्य सामायिकको करे। कैसा है वह सामयिक? पांचों व्रतोंको पूर्ण करनेका साधन (उपाय) है॥ १०१॥

एतदेव समर्थयमानः प्राह--

सामायिक शिक्षाव्रती मनको विषयोंसे रोकता हुवा महाव्रतोंमें सामर्थ्य बढ़ा लेता है, ऐसा बताते हैं—

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि
चेलोपसृष्टमुनिरिव. गृही तदा याति यतिभावम्

'सामयिके' सामायिकावस्थायां। 'नैव सन्ति' न विद्यन्ते। के? 'परिग्रहाः' सङ्गाः। कथभूताः? 'सारम्भाः' कृष्याद्यारम्भसहिताः। कति? सर्वेऽपि "बाह्याभ्यन्तराश्चेतनेतरादिरूपाः" वा। यत एव ततो याति प्रतिपद्यते। कं? यतिभावं यतित्वं। कोऽसौ?

१—पञ्च अंशा अस्येति पञ्चकः। "तदस्यांश वस्न भृतिः" ३।४।६६ इति कल्यः। पञ्च परिमाणमस्य समूहस्येति वा पञ्चकः "स्ये संघसूत्राधीतौ" ३।४।६८ अनेन कः।

गृही श्रावकः । कदा ? सामायिकावस्थायां । क इव ? 'चेलोपसृष्ट-मुनिरिव' चेलेन वस्त्रेण उपसृष्ट उपसर्गवशाद्वेष्टितः स चासौ मुनिश्च स इव तद्वत् ॥ १०२ ॥

अन्वयः — श्रावकस्य सामयिके सारम्भाः सर्वेऽपि परिग्रहाः नैव सन्ति तदा स गृही चेलोपसृष्टमुनिः इव यतिभावं याति ।

निरुक्तिः—आरम्भैः सहितास्ते सारम्भाः । चेलेन उप-सृष्टः उपसर्गो यस्य सः चेलोपसृष्टः, चेलोपसृष्टश्चासौ मुनिरिति चेलोपसृष्टमुनिः । यतेः भावः यतिभावः तं तथा । समयाय हितं सामायिकम् तस्मिन् सामयिके ॥ १०२ ॥

१–उपगि पूर्वक "सृजीङ् विसर्गे" इति धोः "तः ३।२।१०० इति कः । व्रश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राज च्छशां षः ८।३।७ इति जस्य षः । ष्टुना ष्टुः ५।३।१६६ इति तस्य टः ॥ २–यहां उत्प्रेक्षालंकारसे शिष्योंको समझाया जाता है, अणुव्रती श्रावक वस्त्र सहित होता है कौपीनसे लेकर अनेक वस्त्र धारण करता है गृहस्थ कदाचित भी वस्त्ररहित बिलकुल नंगा नहीं होता, इससे सामायिक करते समय नियमित–परिमित वस्त्र धारण करता हुआ उनसे ममता नहीं रखता, आत्महितके लिये अपनी गर्हा निन्दा करता हुवा अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु जिनवाणी रत्नत्रय धर्म जिन प्रतिमा जिनालय इन देवोंके स्वरूपको विचारै है ध्यावे हैं भावना करै हैं । उस समय कृष्यादिक व्यापार, इन्द्रिय भोग उपभोग तथा अन्य समस्त प्रकारके आरम्भोंसे तथा

अर्थ—श्रावकोंके पास सामयिकके समय आरम्भ तथा सर्वप्रकारके परिग्रह नहीं रहते हैं तब वह वस्त्रधारी

समस्त परिग्रहोंसे छूटता हुवा धर्मध्यानके साधनोंमें स्थिर चित्त करता है उसका वस्त्रोंपर ममत्व नहीं है।

इससे वह ऐसा जाना जाता है मानो यह ऐसा म[illegible] ी ही हैं जो एकान्त वसतिकामें ध्यान करते हुवे दिगम्बर जैन मुनि-राजपर किसी भोले भाईने वस्त्र डाल दिया हो उढ़ा दिया हो। उनकी प्रतिज्ञाका बाधक होनेसे उपसर्ग रूप ही है यह निर्वस्त्र नामक मूल गुणका नाशक है। इसीसे उनकी उस वस्त्रपर ममता नहीं है उसे (अपने शरीरपर पड़े हुवे वस्त्रको) उप-सर्ग ही समझते हैं अपने "मुख्य मूलगुणका घातक ही है ऐसा जानते हैं" ऐसे मुनिराजकी उत्प्रेक्षा इस सामायिक शिक्षाव्रत को करनेवाले गृहस्थको वतायी है। अर्थात् सामायिक करते समय वह समस्त प्रकारके आरम्भ परिग्रहका त्यागी तो है किन्तु पहने हुवे वस्त्रोंसे भी ममता नहीं है। सामायिकमें इतना और ऐसा लीन हो जाता है मानो वस्त्रका उपसर्ग हो रहा है ऐसा दिगं-बर जैन साधु ही है जैसे दिगंबर जैन साधुकी उनकी वस्त्रोंमें ममता नहीं है उसी प्रकार इस श्रावककी भी उन पहने हुवे वस्त्रों पर ममता नहीं है।

इस प्रकार भगवान समन्तभद्रस्वामीने इस "चेलोपसृष्ट मुनिरिव" वाक्यसे गुणव्रती श्रावकको अन्तरंग परिग्रह तृष्णाके त्याग करनेका उपदेश दिया है। सोही व्रतियोंको करना चाहिये।

गृहस्थ "वस्त्रका हो रहा है उपसर्ग जिसको ऐसे" मुनिके समान मुनि भावको प्राप्त हो जाता है ॥ १०२ ॥

तथा सामायिकं स्वीकृतवन्तो ये तेऽपरमपि किं कुर्वन्तीत्याह--

सामायिक करनेवाले और क्या करें ? ऐसा बताते हैं-

शीतोष्णदंशमशक-
परीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः ।
सामयिकं प्रतिपन्ना,
अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥१०३॥

'अधिकुर्वीरन्' सहेरन्नित्यर्थः । के ते ? सामायिकं प्रतिपन्नाः' सामायिकं स्वीकृतवन्तः । किं विशिष्टाः सन्तः ? 'अचलयोगाः' स्थिरसमाधयः प्रतिज्ञातानुष्ठानापरित्यागिनो वा । तथा 'मौनधरा-स्तत्पीडायां सत्यामपि क्लीबादिवचनानुच्चारकाः दैन्यादिवचनानु-च्चारकाः । कमधिकुर्वीरन्नित्याह - शीतेत्यादि शीतोष्णदंशमशकानां पीडाकारिणां तत्परिसमन्तात् सहनं परीषहस्तम् । न केवलं तमेव अपि तु 'उपसर्गमपि च' देवमनुष्यतिर्यक्कृतम् ॥ १०३ ॥

अन्वयः-सामायिकं प्रतिपन्नाः श्रावकाः मौनधराः सन्तः

१—प्रति पूर्वक पदोङ् गतौ इति क्तः । द्रास्तस्य तो नोऽम-तपृ मूर्छाम् ५।३।८४ अनेन दस्य तस्य च नकारो । अस्य कर्मणि "न भ्कितलोकस्वार्थान्तृणाम्" १।४।८२ अनेन ताधि-भक्ती निषेध द्व इप् विभक्ती विहिता ।

शीतोष्णदंशमशकपरीषहम् अपि च उपसर्गम् अधिकुर्वीरन् । कथंभूताः श्रावका अचलयोगाः ।

निरुक्तिः—शीतं च उष्णं च दंशमशकश्च इति शीतोष्णदंशमशकाः शीतोष्णदंशमशकानाम् परीषह इति शीतोष्णदंशमशकपरीषहस्तं तथा । मौनं धरन्तीति मौनधराः । अचलो योगो येषां ते अचलयोगाः ॥

अर्थ—सामयिक करनेवाले श्रावक मौन धारण करते हुवे शीत उष्ण दंश मशक परिषहोंको तथा उपसर्गों को सहन करें । कैसे हैं वे श्रावक ? स्थिर है समाधि जिनकी । प्रतिज्ञात किये हुये विधि विधानमें स्थिर हैं १०२

तं चाधिकुर्वाणाः सामायिके स्थिताः एवंविधं संसारमोक्षयोः स्वरूपं चिन्तयेयुरित्याह—

१–परितः सहनं परीषहः—परिपूर्वक षह मर्शने धोः "पुंस्त्रौ घः प्रायः" २।३।११३ इति घः । सिवु सह सुट्स्तु स्वञ्जः ५।४।५५ । इति षकारः । अथवा परितः सह्यते इति परिषट् "क्विप्" २।२।७४ इति "सत्पदादिभ्यः क्विप् क्तिः" २।३।६१ इति च क्विप्–त्यः "नहि वृति वृषि व्यधि रुचि सहि तनौ क्वौ वागगेः" ४।३।२८४ इति परिगेः दीर्घम् । पुनः षत्वं च

२–युजिर योगे धोः युजौङ् समाधौ धोश्च घञ् । "चजोः कुधिंण्णे तेऽनटः" ५।२।६४ अनेन जकारस्य गकारः । योजनं समाधान- मिति योगः समाधिः यमश्चेत्यर्थः

परीषह तथा उपसर्गको जीतनेवाला श्रावक सामायिकमें क्या चिन्तवन करै ? सो बताते हैं—

अशरणमशुभमनित्यं,
दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीताऽऽ-
त्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४॥

तथा सामायिके स्थिता ध्यायन्तु। कम् ? भवं स्वोपात्तकर्मवशाच्चतुर्गतिपर्यटन। कथंभूतम् ? 'अशरणं' न विद्यते शरणमपायपरिरक्षकं यत्र। अशुभमशुभकारणप्रभवत्वादशुभकार्यकारित्वाच्चाशुभं। तथाऽनित्यं चतसृष्वपि गतिषु पर्यटनस्य नियतकालतयाऽनित्यत्वादनित्य। तथा दुःखहेतुत्वाद् दुःखं। तथानात्मानमात्मस्वरूप न भवति। एवंविधं भवमावसामि एवं विधे भवे तिष्ठामीत्यर्थः। यद्येवं विधः संसारस्तर्हि मोक्षः कीदृश इत्याह—मोक्षस्तद्विपरीतात्मा तस्मादुक्तभवस्वरूपाद्विपरीतस्वरूपतः शरणशुभादिस्वरूपः, इत्येव ध्यायन्तु—चिन्तयन्तु सामयिके स्थिताः ॥ १०४ ॥

अन्वयः श्रावकाः सामायिके इति ध्यायन्तु। इतीति किम् ? अहं भवेम् आवसामि। तत् विपरीतात्मा मोक्षः। कथंभूतं भवम् ? अशरणं पुनः अशुभम् पुनः अनित्यम् पुनः दुःखं पुनः अनात्मानम्।

१—भवमिति आवसामि इति क्रियायाः अधिकरणकारकस्य कर्मसंज्ञा वसोमनूपाध्याङः १। २। १४२। अनेन

निरुक्तिः नास्ति शरणं यस्य यस्मिन् वा स अशरणः तम् अशरणम् । नास्ति शुभः यस्य यस्मिन् स अशुभः, तम् अशुभम् । नास्ति नित्यं यस्मिन् सः अनित्यः, तम् अनित्यम् । नास्ति आत्मा यस्मिन् सः अनात्मा, तम् अनात्मानम् । विपरीत एव आत्मा स्वरूपो यस्य स विपरीतात्मा तस्मात्, संसारात् विपरीतात्मा इति तद् विपरीतात्मा ॥

अर्थ—श्रावक लोक सामयिकमें इस प्रकार ध्यान करे कि मैं संसारमें बस रहा हूं और इससे उल्टा मोक्ष है । कैसा है संसार ? जिसमें कोई शरण नहीं है तथा अशुभ है और नित्य नहीं है तथा दुःखरूप है और आत्मा के स्वरूपसे भिन्न है । मोक्षका स्वरूप संसारसे विरुद्ध शरणभूत, शुभरूप, नित्य सुखरूप और आत्मस्वरूप है ऐसा चिन्तवन करे ॥ १०४ ॥

साम्प्रतं सामायिकस्यातीचारानाह—

वाक्कायमानसानां, दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे ।
सामयिकस्यातिगमा, व्यंज्यन्ते पञ्च भावेन ॥

व्यज्यन्ते कथ्यन्ते । के ते ? अतिगमा अतिचाराः । कस्य ? सामयिकस्य । कति ? पञ्च । कथं ? भावेन परमार्थेन । तथा हि । वाक्कायमानसानां दुष्प्रणिधान मित्येतानि त्रीणि । अनादरोऽनुत्साहः अस्मरणमनेकाग्रम् ॥ १०५ ॥

अन्वयः— सामयिकस्यातिगमाः भावेन पञ्च व्यज्यन्ते के ते पञ्च वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानानि अनादरास्मरणे ।

निरुक्तिः--वाक् च कायश्च मानसं च इति वाक्कायमानसानि तेषां वाक्कायमानसानाम् । अनादरश्च अस्मरणञ्च इति अनादरास्मरणे ।

अर्थ--सामायिक शिक्षाव्रतके पांच अतीचार विद्वान मुनिराजोंने व्यक्त = स्पष्ट बताये हैं। जो कि वाक् दुःप्रणिधान = शास्त्रविरुद्ध अशुद्ध पाठ पढना १ काय दुःप्रणिधान = शरीरसे दुश्चेष्टा करना २ मनःदुःप्रणिधान = मनसे दुष्ट परिणाम करना ३ अनादर = सामायिक विधि विधानका आदर न करना ४ अस्मरण = ईर्यापथ दण्डक, चैत्यभक्ति आदिक सामायिक दण्डक पाठोंको भूल जाना ५ ॥ १०५ ॥

१-"भावेन" इतिकर्तृपदम् । भावो विद्वान् रे इत्यमरः, भावः "सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु । क्रियालीलापदार्थेषु बुधजन्तुविभूतिषु" इति रभसः । इति कथनात् भावेन विदुषा मोक्षपुरुषार्थिना मुनिना इत्यर्थः । भावेन इति करणकारकं वा तदा परमार्थस्वरूपेनेत्यर्थश्च ।

२-अञ्जू गतिव्यक्तिम्रक्षणेषु इति रुधादिधोः कर्मणि अञ्जू "गे यक्" २।१।८० इति यक् विकरणः । व्यज्यन्ते व्यक्तीक्रियन्ते इत्यर्थः । ३ मनः एव मानसम् "प्रज्ञादिभ्यः" ४।२।५२ इति स्वार्थे अण्

अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणः प्राह---

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका लक्षण कहते हैं-

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्य्याणां, प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥

प्रोषधोपवासः पुनर्ज्ञातव्यः। कदा पर्वणि--चतुर्दश्यां, न केवलं पर्वणि, अष्टम्यां च। किं पुनः प्रोषधोपवासशब्दाभिधेयः "प्रत्याख्यानं" केषां? "चतुरभ्यवहार्याणां" चत्वारि अशनपानखाद्यलेह्यलक्षणानि। तानि चाभ्यवहार्याणि च भक्षणीयानि तेषां। किं कस्यांचिदेवाष्टम्यां चतुर्दश्यां च तेषां प्रत्याख्यानमित्याह--सदा सर्वकालं। कामिः इच्छाभिर्व्रतविधानवाञ्छाभिस्तेषां प्रत्याख्यानं, न पुनर्व्यवहारकृतधरणकादिभिः॥ १०६ ॥

अन्वयः- पर्वणि — चतुर्दश्यां च अष्टम्यां चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं तु पुनः सदा इच्छाभिः समं चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं प्रोषधोपवासः ज्ञातव्यः।

१-सर्वस्मिन् काले इति सदा "सदा सद्यः" ४।१।१२६ इति निपात्यः।

२-सहार्थेन" १।४।३४ इति सम्बन्धे भा। इच्छाभि वाञ्छाभि व्रतनानाम्। ३-अभ्यवहर्तुं भोक्तुं योग्यानि "ण्यः" २।१।१२२ इति अभि अव गि पूर्वक हृञ् धोः ण्यः। अभ्यवह्रियन्ते भक्ष्यन्ते इति वा अभ्यवहार्याणि "तयोर्व्यक्तकार्थाः २।४।२८ कर्मणि त्यः सदिच्छाभिरिति पाठे तु। सतः समीचीनस्य व्रतस्य इच्छाः वांछाः ताभिः न तु स्वराज्यलिप्साभिः।

निरुक्तिः—चत्वारि चाऽभ्यवहार्याणीति चतुरभ्यवहार्याणि तेषां। तथा प्रोषधे पर्वणि उपवासः प्रोषधोपवासः।

अर्थ—पर्व चतुर्दशी और अष्टमीके दिन अन्न पान खाद्य लेह्य इन चारो प्रकारके भोजनोंका त्याग करना और पर्व दिनोंके अतिरिक्त अन्य समस्त दिनोंमें भी अपनी इच्छा के अनुसार व्रतविधानके उद्देशसे चारो प्रकार के आहारोंका त्याग करना सो प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत जानना अर्थात् यह प्रोषधोपवास पर्वके दिनोंमें तथा अन्य दिनोंमें भी घडी दो घडी प्रहर दो प्रहर आदि कालों में भोजनोंका त्याग अथवा दो एक प्रकारके भोजनोंका प्रत्याख्यान करै। यह केवल पर्व दिनोंके लिये ही नहीं है समस्त कालके लिये भी होता है। यह कथन "तु" पद से जाना जाता है।

उपवासदिने चोपोषितेन किं कर्तव्यमित्याह—

उपवासके दिन भोजनोंका ही त्याग होता है या अन्य विषयोंका भी? उत्तर—औरोंका भी होता है ऐसा बताते हैं—

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात्॥

उपवासदिने परिहृतिं परित्यागं कुर्यात्। केषां? पंचानां

पापानां हिंसादीनां। तथा अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्, अलंक्रिया मण्डनम्, आरंभो वाणिज्यादिव्यापारः गन्धपुष्पाणामित्युपलक्षणं रागहेतूनां गीतनृत्यादीनाम्। तथा "स्नानाञ्जननस्यानाम्" स्नानं च अञ्जनं च नस्यश्च तेषाम्॥ १०७॥

अन्वयः–उपवासे पञ्चानां पापानाम् अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणां स्नानांऽञ्जननस्यानां परिहृतिं कुर्यात्॥

निरुक्तिः–अलंक्रिया च आरम्भश्च गन्धश्च पुष्पं च इति अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणि तेषाम् तथा स्नानं च अञ्जनं च नस्यं च इति स्नानाञ्जननस्यानि तेषां।

अर्थ--उपवासके दिन पांचों पापोंका और आभूषणादिक अलंकार तथा कृषि वाणिज्य आदि आरंभोंका, गन्धका, पुष्पोंका, स्नान करनेका, अञ्जन आंजनेका तथा नस्य आदि सूंघनेका त्याग करे॥ १०७॥

एतेषां परिहारं कृत्वा किं तद्दिनेऽनुष्ठातव्यमित्याह–

इनका परित्याग कर उस दिनका कर्तव्य बताते हैं–

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञानध्यानपरो वा, भवतूपवसन्नतन्द्रालुः॥१०८॥

उपवसन्नुपवासं कुर्वन् धर्मामृतं पिबतु धर्म एवामृतं सकल-

१–नासिकायै हितमिति नस्यम् "प्राण्यङ्गरथखलम च माठ वृषभलतिलाद्यः" ३।३।८ इति यः। पुनः "येऽवर्णे" ४।३।१५ इति नासिका शब्दस्य नस् आदेशः।

प्राणिनामाप्यायकत्वात् तत् पिबतु । काभ्यां ? श्रवणाभ्याम् । कथंभूतः ? सतृष्णः साभिलाषः पिबतु न पुनरुपरोधादिवशात् ! स्वयमनवगतधर्मस्वरूपस्तु अन्यतो धर्मामृतं पिबतु । पाययेद्वान्यान् वा स्वयमवगतधर्मस्वरूपस्तु अन्यानविदिततत्स्वरूपान् पाययेत् । वा 'ज्ञानध्यानपरो' भवतु, ज्ञानपरो द्वादशानुप्रेक्षाद्युपयोगनिष्ठः ॥

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥ १ ॥
निर्जरा च तथा लोकबोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥ २ ॥

"ध्यानपरः" आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणधर्मध्याननिष्ठः भवतु । किं विशिष्टः ? अतन्द्रालुः निद्रालस्यरहितः ॥

अन्वयः--अतन्द्रालुः श्रावकः उपवसन् सन् सतृष्णः श्रवणाभ्यां धर्मामृतं पिबतु वा अन्यान् पाययेत् वा ज्ञानध्यानपरः भवतु ।

निरुक्ति-धर्मः एव अमृतः धर्मामृतः तं, तथा तृष्णया सह वर्तते इति सतृष्णः । ज्ञानं च ध्यानं च ज्ञानध्याने । तयोः परः ज्ञानध्यानपरः न तन्द्रालुः[3] अतन्द्रालुः ।

१-पा पाने णिजन्ताद् धोः लिङ् "शाच्छा साह्वा व्यावेपां युक्" ५।२।७२ इति युगागमः । पाययेत् श्रावयेत् ।

२-"तेन सहेति तुल्ययोगे" १।३।६५ अनेन षसः । "वा नीचः" ४।३।१४६ इति सहस्य सः । ३-"निन्द्रा तन्द्राश्रद्धा शीङ्स्पृहिगृहिपतिदयेरालुः २।२।१५४ इति आलुस्यः ।

अर्थ- निरालस होता हुआ उपवास करनेवाला शिक्षाव्रती रुचि सहित कानोंसे धर्मरूपी अमृतको पीवै और दूसरोंको पिलावें तथा ज्ञान ध्यानमें तत्पर रहे ॥ १०८ ॥

अधुना प्रोषधोपवासस्तल्लक्षणं कुर्वन्नाह—

उपवास प्रोषध और प्रोषधोपवासका लक्षण कहते हैं—

चतुराहारविसर्जन-मुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्यारम्भमाचरति १०९

चत्वारश्च ते आहाराश्चाशनपानस्वाद्यलेह्यलक्षणाः, अशनं हि भक्तमुद्गादि, पानं हि पेयमथितादि, स्वाद्यं मोदकादि, लेह्यं रब्रादि तेषां विसर्जनं परित्यजनमुपवासो विधीयते। प्रोषधः पुनः सकृद्भुक्तिः धारणकदिने एकभक्तविधानं। यत्पुनरुपोष्य उपवासं कृत्वा पारणकदिने आरंभं सकृद्भुक्तिमाचरत्यनुतिष्ठति स प्रोषधोपवासोऽभिधीयते इति ॥ १०९ ॥

अन्वयः—चतुराहारविसर्जनम् उपवासः भवति सकृद्भुक्तिः प्रोषधः भवति। यद् उपोष्य आरंभम् आचरति सः प्रोषधोपवासः ॥

निरुक्तिः—चतुर्णाम् आहाराणाम् विसर्जनम् चतुराहारविसर्जनम्। एकं वारमिति सकृत् (एकं वारं) भुक्तिः सकृद्भुक्तिः प्रोषधेन सह उपवासः प्रोषधोपवासः ॥

१—सकृत् ४। २। २३ इति एक शब्दात् सुच् त्यः सकृदादेशश्च। तस्य लोपः संयोगान्तस्य इत्यादिना १। १। ८८ भिसंज्ञा।

अर्थ—चारों प्रकारके आहारोंका छोड़ना सो उपवास है। दिनमें एकबार भोजन करना सो प्रोषध है। जो उपवास करके पारणाके दिन एक बार भोजन करे सो प्रोषधोपवास है।

अथ केऽस्यातीचारा इत्याह—

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके अतीचार बताते हैं—

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे
यत्प्रोषधोपवास व्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥

प्रोषधोपवासस्य व्यतिलंघनपंचक मतिचारपंचकं। तदिदं पूर्वार्धप्रतिपादितप्रकारं। तथा हि। 'ग्रहणविसर्गास्तरणानि त्रीणि' कथं भूतानि? 'अदृष्टमृष्टानि' दृष्ट-दर्शनं "जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा" चक्षुषावलोकन, मृष्ट मृदुनोपकरणेन प्रमार्जनं, तदुभौ न विद्येते येषु ग्रहणादिषु तानि तथोक्तानि। तत्र बुभुक्षापीडितस्या-दृष्टमृष्टस्यार्हदादिपूजोपकरणस्यात्मपरिधानार्थस्य च ग्रहणं भवति। तथा अदृष्टमृष्टायां भूमौ मूत्रपुरीषादेरुत्सर्गो भवति। तथा अदृष्टमृष्टे प्रदेशे आस्तरणं सस्तरोपक्रमो भवतीत्येतानि त्रीणि। अनादरास्मरणे च द्वे। तथा आवश्यकादौ हि बुभुक्षापीडितत्वाद-नादरोऽनेकाग्रतोलक्षणमस्मरणं भवति॥ ११० ॥

अन्वयः—तत् इदं प्रोषधोपवास—व्यतिलंघनपंचकं भवति यत् अदृष्टमृष्टानि ग्रहणविसर्गास्तरणानि च अनादरास्मरणे।

निरुक्तिः—व्यतिलंघनानां पंचकमिति व्यतिलंघनपंचकम्।

प्रोषधोपवासस्य व्यतिलंघनपंचकमिति प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपंचकम्। दृष्टं च मृष्टं च दृष्टमृष्टे न विद्येते दृष्टमृष्टे येषु तानि दृष्टमृष्टानि। ग्रहणं च विसर्गश्चास्तरणं चेति दृष्टविसर्गास्तरणानि। अनादरश्च अस्मरणं चेति अनादरास्मरणे।

अर्थ- सो ये प्रोषधोपवासके पांच अतीचार हैं जो कि बिना देखे बिना शोधे ग्रहण करना १ बिना देखे बिना सोधे रखना २ और बिना देखे बिना शोधे आसन आदि को बिछाना ३ अनादर करना ४ विधिको भूल जाना ५ ॥

इदानीं वैयावृत्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह--

वैयावृत्य शिक्षाव्रतका लक्षण बताते हैं -

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥१११॥

भोजनादिदानमपि वैयावृत्यमुच्यते। कस्मै दानं? 'तपोधनाय' तप एव धनं यस्य तस्मै। किंविशिष्टाय? 'गुणनिधये' गुणानां सम्यग्दर्शनादीनां निधराश्रयस्तस्मै। तथाऽगृहाय भावद्रव्यागाररहिताय किमर्थं? 'धर्माय' धर्मनिमित्तं। किं विशिष्टं तद्दानं? 'अनपेक्षितोपचारोपक्रियम् उपचारः प्रतिदानं, उपक्रिया मंत्रतंत्रादिना प्रत्युप-

१-मृजूष शुद्धौ धोः क्तः "व्रश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राजच्छशां षः" ५।३।७१ इति अस्य षः। २-वि गौ सृजौ विसर्गे घो घञ। च जोः कुर्घिण्यो तेऽनिटः ५।२।६४ इति अस्य गः।

करणं, ते न अपेक्षिते येन । कथं तद्दानं ? 'विभवेन' विधिद्रव्यादि सम्पदा ॥ १११ ॥

अन्वयः- अगृहाय तपोधनाय गुणनिधये विभवेन दानं वैयावृत्य भवति दानम कीदृशं अनपेक्षितोपचारोपक्रियम् किमर्थम् ? धर्माय ॥

निरुक्तिः- व्यावृत्तेः कर्म भावो वा वैयावृत्यम् । तपः एव धनं यस्य स तपोधनः । तस्मै तपोधनाय । गुणानां निधिः गुणनिधिः तस्मै गुणनिधये । न अपेक्षितः उपचारः उपक्रिया च यस्मिन् तत् अनपेक्षितोपचारोपक्रियम् । नास्ति गृहं यस्य स अगृहः तस्मै अगृहाय ।

अर्थ-गृहत्यागी तपस्वी चारित्रादि गुणोंके निधान ऐसे साधुओंको आहारादिकोंका अपनी सुयोग्य सम्पत्तिके अनुसार शुद्ध आहार औषधि उपकरण और वसतिका (स्थान) का प्रदान करना सो वैयावृत्य शिक्षाव्रत है। कैसा है वह प्रदान ? नहीं है प्रतिदान (बदलेमें किसी वस्तुका लेना) और प्रत्युपकार (मन्त्र तन्त्र औषधि आदि की वांछा) जिससे किसलिये करता है ? अपने गृहस्थ धर्म की प्राप्ति और वृद्धिके लिये।

१-राजपत्यन्तगुणोक्ति राजादिभ्यः कृत्ये च ३।४।१४१ इति ट्यण्। पदे टत्र ऐशौप् ५।२।६ इति ऐप्।

२ "सम्प्रदानेऽप्" १।४।२४ "कर्मणोपेयः सम्प्रदानम् १।२।१२६ आभ्यां सम्प्रदानसंज्ञा--अप् च विभक्ती।

न केवलं दानमेव वैयावृत्यमुच्यतेऽपि तु--

दानके अतिरिक्त अन्य भी वैयावृत्य है, ऐसा बताते हैं–

व्यापत्तिव्यपनोदः, पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥

"व्यापत्ति–व्यपनोदः" व्यापत्तयो विविधा व्याध्यादिजनिता आपदस्तासां व्यपनोदो विशेषेणापनोदः स्फेटनं यत्तद्वैयावृत्यमेव। तथा 'पदयोः संवाहनं' पादयोर्मर्दनं। कस्मात्? गुणरागात् भक्तिवशादित्यर्थः न पुनर्व्यवहारात् दृष्टफलापेक्षणाद्वा। न केवलमेतावदेव वैयावृत्यं किन्तु अन्योऽपि संयमिनां देशसकलयतीनां सम्बन्धी यावान्[1] यत्परिमाणं उपग्रह उपकारः स सर्वो वैयावृत्यमेवोच्यते॥ ११२ ॥

अन्वयः—गुणरागात् संयमिनां व्यापत्तिव्यपनोदः वैयावृत्यं भवति। गुणरागात् संयमिनां पदयोः संवाहनं वैयावृत्यं भवति। अपि च गुणरागात् संयमिनां यावान् अन्यः उपग्रहः तावान् सर्वोऽपि वैयावृत्यं भवति ॥

निरुक्तिः--गुणेषु रत्नत्रयेषु अनुरागः गुणानुरागः तस्मात् गुणानुरागात्। संयमः विद्यते येषां ते संयमिनः[2] तेषां संयमिनाम्। व्यापत्तीनां व्यपनोदः परिहारः व्यापत्तिव्यपनोदः ॥

१–यद् मानमस्य यावान् "यत्तदः" ३।४।२०६ इति वतु त्यः

२–अतोऽनेकाचः ४।१।७६ इति इन् त्यः।

अर्थ—गुणोंमें अनुरागके होनेसे संयमियोंकी आपत्तिका दूर करना सो वैयावृत्य है। गुणानुरागसे संयमियोंके चरणोंका दाबना भी वैयावृत्य है तथा गुणानुरागसे संयमियोंका जितना अन्य भी उपकार करना उतना सर्व ही वैयावृत्य है ॥ ११२ ॥

अथ किं दानमुच्यत इत्यत आह—

जो दान वैयावृत्य है उसका वर्णन करते हैं—

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः, सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणा-मार्याणामिष्यते दानम् ॥ ११३॥

दानमिष्यते। कासौ ? प्रतिपत्तिः गौरवं आदरस्वरूपा। केषाम् आर्याणां सद्दर्शनादिगुणोपेतमुनीनां। किंविशिष्टानां ? अपसूनारम्भाणां सूनाः पंच जीवघातस्थानानि। तदुक्तम्।

खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥

खंडनी-उलूखलं, पेषणी घरट्टं, चुल्ली-चुलूकः, उदकुंभः उदकघटः, प्रमार्जनी बोहारिका। सूनाश्चारंभाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता येषां तेषां। केन प्रतिपत्तिः कर्तव्या ? सप्तगुणसमाहितेन।

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यं।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥

इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन तु दात्रा दानं दातव्यं। कैः कृत्वा ? नव पुण्यैः—

पडिगहमुच्चट्ठाणं, पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य नवविहं पुण्णं ॥
एतैर्नवभिः पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभिः ॥ ११३ ॥

अन्वयः सप्तगुणसमाहितेन श्रावकेन नवपुण्यैः अपसूनारम्भाणाम् आर्याणां प्रतिपत्तिः दानम् इष्यते ॥

निरुक्तिः--नव च यानि पुण्यानि तानि नवपुण्यानि तैः नवपुण्यैः । सप्त ते गुणाश्च सप्तगुणाः । सप्तगुणैः समाहितः इति सप्तगुणसमाहितः । तेन सप्तगुणसमाहितेन । सूनाश्च आरम्भाश्च सूनारम्भाः । अपगताः सूनारम्भाः येषां ते अपसूनारम्भास्तेषां तथा ।

अर्थ–सात गुणवाला सज्जातीय श्रावक द्वारा नवधा भक्तिसे पचसून और सर्व तरहके आरंभ रहित आर्योंको (मुनीश्वरोंको) व्रतियोंको सत्कार पूर्वक जो आहारादिकोंका प्रदान करना है उसे आचार्योंने दान माना है ॥ ११३ ॥

इत्थं दीयमानस्य फलं दर्शयन्नाह —

१-समाधायि इति समाहितः । सम् आङ् पूर्वक डुधाञ् धारणे च धोः कर्मणि क्तः 'धाञो हि' ५-२-१६१ इति हिरादेशः । करोकृत इत्यर्थः । २-ओषुङ् प्राणिगर्भविमोचने अदादे धो क्तः "ओदित" ५-३-८४ अनेन त्यस्य नकारादेशः । स्त्रीत्वे टाप् सूना-वधालयः । "सूनास्त्र या पुष्पिते पुष्पे जिह्वातले वधालये इत्याजयः । सूनाकुर्या वधस्थाने गलशुण्डिकयोरपि इति विश्वः । तेषां भवा नामानि संस्कृतटीकातो ज्ञातव्यानि ।

इस प्रकार दिये हुवे दानका फल बताते हैं—

गृहकर्मणापि निचितं
कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा
रुधिरमलं धावते वारि ॥ ११४ ॥

विमार्ष्टि[1] स्फेटयति। खलु स्फुटं। किं तत्? कर्म पापरूपं। कथंभूतं? निचितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा। केन? गृहकर्मणा सावद्यव्यापारेण। काऽसौ कर्त्री? प्रतिपूजा दानं। केषामपि? अतिथीनां न विद्यते तिथिर्येषां तेषां। किं विशिष्टानां गृहविमुक्तानां गृहरहितानाम्। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—'रुधिरमलं धावते वारि' अलं शब्दो यथार्थे। अयमर्थो, रुधिरं यथा मलिनमपवित्रं च वारि कर्तृ निर्मलं पवित्रं च धावते प्रक्षालयति तथा दानं पापं विमार्ष्टि ॥ ११४ ॥

अन्वय—यथा वारि रुधिरमलं धावते तथा अतिथीनां प्रतिपूजा खलु गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि। कथं भूतानाम् अतिथींनां, गृहविमुक्तानाम्।

१-विशेषेण मार्ष्टि शोधयतीति विमार्ष्टि। मृजूष् शुद्धौ धोः अदादेः लट ति। "हृदादेरुलुप्" २।१।८२ अनेन शपः उप्। मृजि रैप् ५।२।१। इति पेप् आर। व्रश्च भ्रस्ज सृजमृज यज राज भ्राजच्छशां षः ५।३।७१ इति जस्य षत्वम्।

निरुक्तिः-रुधिर एव मलः रुधिरमलः तम् । इति प्रामादिकं, किंतु असिमसिकृष्यादिसूनादिकं चेति रुधिरमिति कर्मकारकम् । अलमित्यव्ययं यथार्थवाचकम् । गृहस्य कर्म गृहकर्म तेन गृहकर्मणा । गृहात् विमुक्ताः ते गृहविमुक्ताः तेषाम् ।

अर्थ-जैसे जल रक्तको शुद्ध कर देता है उसी तरह मुनिराजोंकी पूजादि वैयावृत्य भी गृहस्थियोंके गृहकार्योंसे उत्पन्न हुये पापकर्मको शुद्ध कर देते हैं। कैसे हैं वे साधु जिन्होंने गृहका त्याग कर दिया है ॥ ११४ ॥

साम्प्रतं नवप्रकारेषु प्रतिग्रहादिषु क्रियमाणेषु कस्मात् किं फलं सम्पद्यत इत्याह—

किस किस प्रतिपत्तिसे (वैयावृत्यसे) क्या क्या फल मिलता है सो क्रमसे बताते हैं--

उच्चैर्गोत्रं प्रणते-र्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूपं, स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ।

तपोनिधिषु यतिषु । प्रणतेः प्रणामकरणादुच्चैर्गोत्रं भवति । तथा दानादशनशुद्धिलक्षणाद्भोगो भवति। उपासनात् प्रतिग्रहणादिरूपात् सर्वत्र पूजा भवति । भक्तेर्गुणानुरागजनितान्तःश्रद्धाविशे-

१-प्राणवाद शास्त्रके अनुसार जलका गुण रुधिरको शुद्ध करना भी है । इसलिये "रुधिरम्" यह द्वितीयान्त पद कर्म कारक है और "अलम्" यह अव्यय पद वस्तु स्वरूपका द्योतक है यही अभिप्राय संस्कृत टीकाकारका है ।

षलक्षणायाः सुन्दररूपं भवति । स्तवनात् श्रुतजलधीत्यादिस्तुति-विधानात् सर्वत्र कीर्तिर्भवति ॥ ११५ ॥

अन्वयः–तपोनिधिषु प्रणतेः उच्चैर्गोत्रं भवति तपोनिधिषु दानात् भोगः भवति तपोनिधिषु उपासनात् पूजा, तपोनिधिषु भक्तेः सुन्दररूपं, तपोनिधिषु स्तवनात् कीर्तिर्भवति ॥

निरुक्तिः–उच्चैः यत् गोत्रं उच्चैर्गोत्रम् । सुन्दरं च यत्रूपं सुन्दररूपम् । तपसां निधयः तपोनिधयः तेषु तपोनिधिषु ॥

अर्थ–तपोनिधियोंको प्रणाम करनेसे उच्चगोत्र बंधता है । उनको दान देनेसे भोगसामग्री प्राप्त होती है । तथा उनकी उपासना करनेसे पूजा होती है । उनकी भक्ति करनेसे दिव्य रूप मिलता है । उनका स्तवन करने से जगतमें कीर्ति फैलती है ॥ ११५ ॥

नन्वेवंविधं विशिष्ट फलं स्वल्पं दानं कथं सम्पादयतीत्या-शङ्काऽपनोदार्थमाह–

ऐसे उत्कृष्ट फलको स्वल्प दान कैसे प्राप्त करा सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर बताते हैं--

क्षितिगतमिव वटबीजं,
पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं,
बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ ११६ ॥

अल्पमपि दानमुचितकाले पात्रगतं सत्पात्रे दत्तं शरीरभृतां संसारिणामिष्टं फलं बह्वनेकप्रकारसुंदररूपं भोगोपभोगादिलक्षणं फलति। कथंभूतं? छायाविभवं-छाया माहात्म्यं, विभवं सम्पत्, तौ विद्येते यत्र। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं क्षितीत्यादिदृष्टन्तमाह--क्षितिगतं सुक्षेत्रे निक्षिप्तं यथा अल्पमपि वटबीजं बहुफलं फलति। कथं? छायाविभवं छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथा भवत्येवं फलति ॥ ११६ ॥

अन्वयः---यथा क्षितिगतम् अल्पमपि वटबीजं शरीरभृताम् इष्टं काले छायाविभवं यथास्यात्तथा बहुफलं फलति तथा पात्रगतम् अल्पम् अपि दानं शरीरभृताम् इष्टं काले बहुफलं फलति।

निरुक्तिः--क्षितौ गतं क्षितिगतम्। वटस्य बीजं बटबीजम्। शरीरं बिभ्रति इति शरीरभृतः तेषाम्। (छायायाः विभवःछायाविभवः तम्) छाया च विभवश्च विद्येते यत्र तत् छायाविभवम्, पात्रे गतं पात्रगतम्। बहु च यत् फलं तत् बहुफलं।

अर्थ--जैसे पृथ्वीमें बोया हुआ छोटासा भी बटका बीज समयपर प्राणियोंको प्यारी ऐसी बहुत छायाको देता है। उसीप्रकार सत्पात्रको थोड़ा सा भी दिया हुआ दान प्राणियोंको योग्य महत्वको तथा संपदाको (समयपर बहुत ऐसे उत्तम फलको) फलता है॥ ११६ ॥

तच्चैवंविधफलसम्पादकं दानं चतुर्भेदं भवतीत्याह—

उस दानके भेद बताते हैं--

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥११७॥

वैयावृत्यं दानं ब्रुवते प्रतिपादयन्ति च । कथं ? चतुरात्मत्वेन चतुःप्रकारत्वेन । के ते ? चतुरस्राः पण्डिताः । तानेव चतुष्प्रकारान् दर्शयन्नाहारेत्याद्याह--आहारश्च भक्तपानादिः औषधं च व्याधिस्फेटकं द्रव्यं तयोर्द्वयोरपि दानेन । न केवलं तयोरेव अपि तु उपकरणावासयोश्च उपकरणं ज्ञानोपकरणादिः आवासो वसतिकादिः ॥

अन्वयः—चतुरस्राः चतुरात्मत्वेन वैयावृत्यं ब्रुवते । कथंभूतेन चतुरात्मत्वेन ? आहारौषधयोः दानेन अपि च उपकरणावासयोः दानेन ।

निरुक्तिः—चत्वारः आत्मनः स्वरूपाः यस्य तत् चतुरात्म तस्य भावः चतुरात्मत्वं । व्यावृत्तेःकर्म वैयावृत्यम् । आहारश्च औषधश्च आहारौषधौ तयोः । उपकरणं च आवासश्च उपकरणावासौ तयोः । चत्वारः अस्राः कोणाः द्रव्यक्षेत्रकालभावाः येषां ते चतुरस्राः विद्वांसः ।

१–ज्ञानदान और अभयदान नहीं कहे हैं क्योंकि ये महाव्रतियोंके ही होते हैं ।

२–गां भूमिं योनिं त्रायते रक्षतीति गोत्रं कुलम् । यत्र उच्चैः मनुष्यादिशरीरस्य उपादानानि रजांसि वीर्याणि तेषां चोत्पादकस्त्रीपुरुषशरीराणामुत्कृष्टो निर्दोषः उत्तमाचरणं च यत् गोत्रं तत् उच्चैर्गोत्रं भवति ।

अर्थ—बुद्धिमान् गणधरदेवोंने चार भेदोंसे वैयावृत्यको कहा है। कौनसे वह चार भेद हैं? आहारदान, औषधदान, उपकरणदान, बसतिकादान ॥ ११७ ॥

विशेष-ग्रहस्थ श्रावक इनही चारों दानोंको करता है। उपकरणमें शास्त्र पिच्छिका कमण्डलु साडी गोणी कौपीन लेखनी मसी कागज शय्यादिक हैं। वसतिकादानमें धर्मशाला जिनमंदिर शास्त्रभंडार विद्यालय पाठशाला विहार इत्यादिक हैं ये चार प्रकारके दान महाव्रती मुनि आर्यिका वानप्रस्थ आदि पूज्य महापुरुषोंको देनेसे भक्तिदान, अणुव्रती ग्रहस्थोंको, ब्रह्मचारिणी नैष्ठिक धर्मप्रभावक पाठक आदिको देनेसे उत्तम समदत्ति है। ज्ञानदान और अभयदान ये दोनों ही दान महाव्रती साधु केवली श्रुतकेवली (ही मुख्यतासे) करते हैं। इसीसे इस उपासकाध्ययनमें (श्रावकाचारमें) ये ही चार दान बताये हैं।

तच्चतुष्प्रकारं दानं किं केन दत्तमित्याह—

दानफल भोगनेवालोंके ऐतिहासिक नाम बतलाते हैं—

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः सूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥ ११८ ॥

चतुर्विकल्पस्य चतुर्विधस्य वैयावृत्यस्य दानस्यैते श्रीषेणादयो दृष्टान्ता मन्तव्याः।

तत्राहारदाने श्रीषेणो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

मलयदेशे रत्नसंचयपुरे राजा श्रीषेणो राज्ञी सिंहनन्दिता

वल्लभया तयैव च सह विमुक्तानाकार्य्य क्रीडां करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे यो वाराणस्याः पृथिवीचन्द्रो नाम राजा धृत आस्ते सोऽति-प्रचण्डत्वात्तद्विवाहकालेऽपि न मुक्तः। ततस्तस्य या राज्ञी नारायणदत्ता तया मंत्रिभिः सह मंत्रयित्वा पृथिवीचन्द्रमोचनार्थं वाराणस्यां सर्वत्रावारितसत्कारा वृषभसेनाराज्ञीनाम्ना कारिता, तेषु भोजनं कृत्वा कावेरीपत्तनं ये गतास्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यस्तं वृत्तान्तमाकर्ण्य रुष्टया रूपवत्या भणिता वृषभसेने त्वं मामपृच्छन्ती वाराणस्यां कथं सत्कारान् कारयसि? तया भणितमहं न कारयामि किन्तु मम नाम्ना केनचित्कारणेन केनापि कारिताः तेषां शुद्धिं कुरु त्वमिति चरपुरुषैः कृत्वा यथार्थं ज्ञात्वा तया वृषभसेनायाः सर्वं कथितम्। तया च राजानं विज्ञाप्य मोचितः पृथ्वीचन्द्रः। तेन च चित्रफलके वृषभसेनोग्रसेनयो रूपे कारिते। तयोरधो निजरूपं सप्रणामं कारितम्। स फलकस्तयोर्दर्शितः भणिता च वृषभसेना राज्ञी--देवि! त्वं मम मातासि त्वत्प्रसादादिदं जन्म सफलं मे जातं। तत उग्रसेनः सन्मानं दत्वा भणितवान् त्वया मेघपिंगलस्योपरि गंतव्यमित्युक्त्वा स च ताभ्यां वाराणस्यां प्रेषितः। मेघपिंगलोऽप्येतदाकर्ण्य ममायं पृथ्वीचन्द्रो मर्मभेदीति पर्यालोच्यागत्य चोग्रसेनस्यातिप्रसादितः सामन्तो जातः। उग्रसेनेन चास्थानस्थितस्य यन्मे प्राभृतमागच्छति तस्यार्धं मेघपिंगलस्य दास्यामि अर्धं च वृषभसेनाया इति व्यवस्था कृता। एवमेकदा रत्नकंबलद्वयमागतमेकैकं सनामाङ्कं कृत्वा तयोर्दत्तं। एकदा मेघपिंगलस्य राज्ञी विजयाख्या मेघपिंगलकम्बलं प्रावृत्य प्रयोजनेन रूपवतीपार्श्वे गता।

तत्र कम्बलपरिवर्तो जातः। एकदा वृषभसेनाकम्बलं प्रावृत्य मेघपिंगलः सेवायामुग्रसेनसभायामागतः, राजा च तमालोक्याति-कोपाद्रक्ताक्षो बभूव। मेघपिंगलश्च तं तथाभूतमालोक्य ममोपरि कुपितोऽयं राजेति ज्ञात्वा दूरं नष्टः। वृषभसेना च रुष्टेनोग्रसेनेन मारणार्थं समुद्रजले निक्षिप्ता। तया च प्रतिज्ञा गृहीता 'यदि एत-स्मादुपसर्गादुद्धरिष्यामि तदा तपः करिष्यामीति'। ततो व्रतमाहा-त्म्याज्जलदेवतया तस्याः सिंहासनादिप्रातिहार्यं कृतम्। तच्छ्रुत्वा पश्चा-त्तापं कृत्वा राजा तामानेतुं गतः। आगच्छता वनमध्ये गुणधर-नामाऽवधिज्ञानी मुनिर्दृष्टः। स च वृषभसेनया प्रणम्य निजपूर्व-भवचेष्टितं पृष्टः। कथितं च भगवता, यथा—पूर्वभवे त्वमत्रैव ब्राह्मण-पुत्री नागश्री नामा जातासि। राजकीयदेवकुले सम्मार्जनं करोषि। तत्र देवकुले चैकदाऽपराह्णे प्राकाराभ्यन्तरे निर्वातगर्तायां मुनि-दत्तनामा मुनिः पर्यङ्ककायोत्सर्गेण स्थितः। त्वया च रुष्टया भणितः कटकाद्राजा समायातोऽत्रागमिष्यतीत्युत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्मार्जनं करोमि (तत्र) लग्नेति ब्रुवाणायास्तत्र मुनिः कायोत्सर्गं विधाय मौनेन स्थितः। ततस्त्वया कचवारेण पूरयित्वोपरि सम्मार्जनं कृतम्। प्रभाते तत्रागतेन राज्ञा तत्प्रदेशे क्रीडता उच्छ्वसितनिःश्वसितप्रदेशं दृष्ट्वा उत्खन्य निःसारितश्च स मुनिः। ततस्त्वयात्मनिन्दां कृत्वा धर्मे रुचिः कृता। परमादरेण च तस्य मुनेस्त्वया तत्पीडोपशमनार्थं विशिष्टमौषधदानं वैयावृत्यं च कृतम्। ततो निदानेन मृत्वेह धनपति-धनश्रियोः पुत्री वृषभसेना नाम जातासि। औषधदानफलात् सर्वौ-षधर्द्धिफलं जातम्। कचवारपूरणात् कलंकिता च। इति श्रुत्वात्मानं

मोचयित्वा वृषभसेना तत्समीपे आर्यिका जाता। औषधदानस्य फलम् ॥ २ ॥

श्रुतोपकरण (श्रुत) दाने कौण्डेशो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

कुरुमणिग्रामे गोपालो गोविन्दनामा। तेन च कोटरादुद्धृत्य चिरन्तनपुस्तकं प्रपूज्य भक्त्या पद्मनन्दिमुनये दत्तम्। तेन पुस्तकेन तत्राटव्यां पूर्वभट्टारकाः केचित् किल पूजां कृत्वा कारयित्वा च व्याख्यानं कृतवन्तः कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च। गोविन्देन च बाल्यात्प्रभृति तं दृष्ट्वा नित्यमेव पूजां कृत्वा वृक्षकोटरे स्थापितम् एवं भूयात् पुनर्दर्शनमिति। स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्रामकूटस्य पुत्रोऽभूत्। तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जातः। तपो गृहीत्वा कोण्डेशनामा महामुनिः श्रुतधरोभूत्। इति श्रुतदानस्य श्रुतोपकरणदानस्य फलम्॥ ३ ॥

वसतिदाने सूकरो दृष्टांतः। अस्य कथा—

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविलनामा, नापितश्च धमिल्लनामा। ताभ्यां पथिकजनानां वसतिनिमित्तं देवकुलं कारितम्। एकदा देविलेन मुनये तत्र प्रथम वसतिर्दत्ता धमिल्लेन च पश्चात् परिव्राजकस्तत्रानीय धृतः। ताभ्यां च धमिल्लपरिव्राजकाभ्यां निःसारितः स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दंशमशकशीतादिकं सहमानः स्थितः, प्रभाते देविलधमिल्लौ तत्कारणेन परस्परं युद्धं कृत्वा मृत्वा विन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रौ प्रौढौ जातौ। यत्र च गुहायां स सूकरस्तिष्ठति तत्रैव च गुहायामेकदा समाधिगुप्तत्रिगुप्तमुनी आगत्य स्थितौ, तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो धर्ममाकर्ण्य

व्रतं गृहीतवान् । तत्प्रस्तावे मनुष्यगंधमाघ्राय मुनिभक्षणार्थं स व्याघ्रोऽपि तत्रायातः । सूकरश्च तयो रक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थितः । तत्रापि तौ परस्परं युद्ध्वा मृतौ । सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धित्वात् मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः । व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौद्राभिप्रायत्वात्मृत्वा नरकं गतः । वसतिदानस्य फलम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—चतुर्विकल्पस्य वैयावृत्यस्य एते दृष्टान्ताः मन्तव्याः । एते के ? श्रीषेणवृषभषेणे कोण्डेशः च सूकरः ।

निरुक्तिः-चत्वारो विकल्पाः यस्य तत् चतुर्विकल्पं तस्य चतुर्विकल्पस्य । श्रीषेणश्च वृषभसेना च इति श्रीषेणवृषभसेने ।

अर्थ—चारों वैयावृत्योंके ये चारों दृष्टान्त समझने चाहिये । वे कौन हैं ? आहारदानमें श्रीषेण और औषध दानमें वृषभसेना, उपकरणदानमें कौण्डेश और वसतिका दानमें सूकर पशु ।

यथा वैयावृत्य विदधता चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाविधानमपि कर्तव्यमित्याह—

जैसे चतुर्थ शिक्षाव्रतीके चारों दान बताये हैं उसी प्रकार जिनपूजन विधान भी करना बताते हैं--

देवाधिदेवचरणे, परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि, परिचिनुयादादृतो नित्यम्

१-श्रीः सेना यस्य स श्रीषेणः । "पत्यगः" ५।४।२७ षत्वम् । पुनः "षोनोणोऽभिन्ने" ५।४।११ अनेन च णकारादेशः ।

आदृतः आदरयुक्तो नित्यं परिचिनुयात् पुष्टं कुर्यात् । किं ? परिचरणं पूजां । किंविशिष्टं ? सर्वदुःखनिर्हरणं निःशेषदुःखविनाशकं । क्व ? देवाधिदेवचरणे देवानामिन्द्रादीनामधिको वन्द्यो देवो देवाधिदेवस्तस्य चरणः पादः तस्मिन् । कथंभूते ? कामदुहि वाञ्छितप्रदे । तथा कामदाहिनि कामविध्वंसके ॥ ११९ ॥

अन्वयः—देवाधिदेवचरणे नित्यं आदृतः परिचरणं परिचिनुयात् । कीदृशे देवाधिदेवचरणे ? कामदुहि पुनः कामदाहिनि किंभूतं परिचरणम् ? सर्वदुःखनिर्हरणम् ॥

निरुक्तिः—देवानाम् अधिदेवः देवाधिदेवः । देवाधिदेवस्य चरणं देवाधिदेवचरणं तस्मिन् देवाधिदेवचरणे । सर्वाणि दुःखानि निर्हरति इत्येवं शीलं सर्वदुःखनिर्हरणम् । कामं भोगं दोग्धि इति कामधुक्[2] तस्मिन् । कामं मन्मथं दहति[3] इत्येवं शीलं तत् कामदाहि तस्मिन् ॥

अर्थ—देवाधिदेवके चरणोंकी हमेशा आदरसहित पूजा भक्ति करे । कैसे हैं भगवानके चरण ? मनोवांछित फलके देनेवाले और काम ज्वरके जलानेवाले हैं । कैसी

१–आङ् पूर्वक दृङ् आदरे धोः क्तः । "आदृतौ सादरार्चिता" इत्यमरः । प्रथमान्तः ।

२–कामपूर्वकदुहोञ् क्षरणे धोः "क्विप्" २।२।७३ इति कर्तरि क्विप् त्यः । ३–कामपूर्वक दह भस्मीकरणे धोः "शीलेऽजातौ णिन् २।२।७८ इति णिन् त्यः ।

है वह पूजा ? सम्पूर्ण प्रकारके दुःखोंको दूर करने वाली है ॥ ११९ ॥

पूजामाहात्म्यं किं क्वापि केन प्रकटितमित्याशङ्क्याह–

जिनपूजनके महत्त्व प्रकट करनेवालेका नाम बताते हैं–

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः, कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥१२०॥

भेको मण्डूकः प्रमोदमत्तो विशिष्टधर्मानुरागेण हृष्टः अवदत् कथितवान् । किमित्याह–अर्हदित्यादि, अर्हतश्चरणौ अर्हच्चरणौ तयोः सपर्या पूजा तस्याः महानुभावं विशिष्टं माहात्म्यं । केषामवदत् ? महात्मनां भव्यजीवानां । केन कृत्वा ? कुसुमेनैकेन । क्व ? राजगृहे ।

अस्य कथा–

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिकः श्रेष्ठी नागदत्तः श्रेष्ठिनी भवदत्ता । स नागदत्तः श्रेष्ठी सर्वदा मायायुक्तत्वान्मृत्वा निजप्राङ्गणवाप्यां भेको जातः । तत्र चागतामेकदा भवदत्तां श्रेष्ठिनीमालोक्य जातिस्मरो भूत्वा तस्याः समीपे आगत्य उपर्युत्प्लुत्य चटितः । तया च पुनः पुनर्निर्धाटितो रटति, पुनरागत्य चटति च ततस्तया कोऽप्ययं मदीय इष्टो भविष्यतीति सम्प्रधार्यावधिज्ञानी सुव्रतमुनिः पृष्टः । तेन च तद्वृत्तान्ते कथिते गृहे नीत्वा परमगौरवेणासौ धृतः । श्रेणिकमहाराजश्चैकदा वर्धमानस्वामिनं वैभारपर्वते समागतमाकर्ण्य आनन्दभेरीं दापयित्वा महता विभवेन तं वंदितुं गतः । श्रेष्ठिन्यादौ च गृहजने वन्दनाभक्त्यर्थं गते स भेकः प्राङ्गणवापी-

कमलं पूजानिमित्तं गृहीत्वा गच्छन् हस्तिना पादेन चूर्णयित्वा मृतः। पूजानुरागवशेनोपार्जितपुण्यप्रभावात् सौधर्मे महर्द्धिकदेवो जातः। अवधिज्ञानेन पूर्वभववृत्तान्तं ज्ञात्वा निजमुकुटाग्रे भेक-चिह्नं कृत्वा समागत्य वर्धमानस्वामिनं वन्दमानः श्रेणिकेन दृष्टः। ततस्तेन गौतमस्वामी भेकचिह्नोऽस्य किं कारणमिति पृष्टः तेन च पूर्ववृत्तान्तः कथितः। तच्छ्रुत्वा (सर्वे) भव्यजनाः पूजातिशयवि-धाने उद्यताः संजाता इति ॥ ३० ॥

अन्वयः—राजगृहे भेकः प्रमोदमत्तः सन् एकेन कुसुमेन महात्मनाम् अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावम् अवदत्।

निरुक्तिः—महान्तश्च ते आत्मनः इति महात्मानः तेषां महा-त्मनाम्। प्रमोदेन मत्तः इति प्रमोदमत्तः। अर्हतां चरणौ इति अर्ह-च्चरणौ तयोः सपर्या इति अर्हच्चरणसपर्या अर्हच्चरणसपर्यायाः महानुभावः इति अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावः तं तथा ॥

अर्थ—राजगृह नगरमें एक मेंढकने आनंदसे प्रसन्न होते हुए एक ही पुष्पसे महत्पुरुषोंके मध्यमें अर्हतदेव-के चरणोंकी पूजाके महत्त्वको बतला कर प्रकट किया ॥

इदानीमुक्तप्रकारस्य वैयावृत्यस्यातीचारानाह—

१—अर्हन्ति पूज्या भवन्ति ते अर्हन्तः। अर्ह पूजायामिति धोः "सुग्द्विषर्हः सत्र्यरिशस्ये ५।२।१२४ अनेन शस्ये-प्रशस्ये पूज्ये-ऽर्थे शतृ त्यः। २—सपर पूजायामिति "कण्ड्वादेर्यक्" २।१।४० इति यक् ततः "त्यात् २।३।६६ इति स्त्रीलिङ्गे भावे अस्यः। ततः टाप्। सपर्या पूजनं भक्तिरित्यर्थः।

वैयावृत्यके अतीचार बताते हैं-

हरितपिधाननिधाने,ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि वैयावृत्यस्यैते, व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥१२१॥

पञ्चैते आर्यापूर्वार्धकथिता वैयावृत्यस्य व्यतिक्रमाः कथ्यन्ते। तथा हि। हरितपिधाननिधाने हरितेन पद्मपत्रादिना पिधानं झम्पनमाहारस्य। तथा हरिते तस्मिन् निधानं स्थापनम्। तस्य अनादरः प्रयच्छतोऽप्यादराभावः। अस्मरणमाहारादिदानमेतस्यां वेलायामेवंविधपात्राय दातव्यमिति आहार्यवस्तुष्विदं दत्तमदत्तमिति वा स्मृतेरभावः। मत्सरत्वमन्यदातृदानगुणासहिष्णुत्वमिति ॥१२१॥

अन्वयः-वैयावृत्यस्य एते पञ्च व्यतिक्रमाः कथ्यन्ते। के ते पञ्च? हरितपिधाननिधाने हि अनादरास्मरणमत्सरत्वानि ॥

निरुक्तिः-पिधानं च निधानं च इति पिधाननिधाने। हरितयोः पिधाननिधाने इति हरितपिधाननिधाने। अथवा हरितेन पिधानमिति हरितपिधानम्। हरिते निधानमिति हरितनिधानम्। हरितपिधानं च हरितनिधानं चेति तथा अनादरं च अस्मरणं च मत्सरत्वं च इति अनादरास्मरणमत्सरत्वानि ॥

अर्थ- वैयावृत्त शिक्षाव्रतके पांच अतीचार बताये

१-अपि धीयते इति अपिधीयतेऽनेन वा पिधानम्। "करणाधारे चानट्" २।३।११२ इति अनट् त्यः "धाञ् न ह्यपेः" ४।३।१२८ अनेन अपि शब्दस्य च आद्यस्याकारस्य नाशः।

हैं (कौनसे वे पांच) जो कि हरित पिधान (हरित पत्रों से ढकना) हरित निधान (हरित पत्रमें रखना) २ अनादर- आदरसे दानको न देना वा देकर पाश्चात्ताप करना ३ अस्मरण विधिका भूल जाना ४ और मत्सरभाव दूसरे दाताओंकी प्रशंसाको न सहना ५ ॥

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपा- सकाध्ययने गौरीलालसिद्धांतशास्त्रिणा निरुक्तायां पञ्जिकायां हिन्दीभाषायां च सद्वृत्ताधिकारे शिक्षाव्रतवर्णनो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।

सद्वृत्ते संल्लेखनाधिकारः षष्ठः ।

अथ सागारिणामणुव्रतादिवत् सल्लेखनाप्यनुष्ठातव्या सा च किंस्वरूपा कदाचानुष्ठातव्येत्याह—

जिस प्रकार गृहस्थ श्रावक अणुव्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका पालन करता है उसी प्रकार संल्लेखनाव्रत-का भी पालन करता है, अतएव संल्लेखनाका स्वरूप, उसके प्राप्त होनेका प्रयत्न और उसका समय क्या है? ऐसा बताते हैं—

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे ॥
धर्माय तनुविमोचन-माहुः संल्लेखनामार्याः १२२

आर्या गणधरदेवादयः सँल्लेखनामाहुः । किं तत्? तनु-विमोचनं शरीरत्यागः । कस्मिन् सति? उपसर्गे तिर्यङ्मनुष्यदेवा-ऽचेतनकृते । निष्प्रतीकारे प्रतीकारागोचरे । एतच्च विशेषण दुर्भिक्ष-जरारुजानां प्रत्येकं सम्बन्धनीयं । किमर्थं तद्विमोचनं? धर्माय रत्न-त्रयाराधनार्थं न पुनः परस्य ब्रह्महत्याद्यर्थम् ॥ १२२ ॥

अन्वयः—उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि च रुजायां निष्प्रतिकारे

१-जराया डस् ५।१।१७५ इति ङि परे डसादेशः ।

२-प्रतिपूर्वक कृधोः घञ् ततो "घञि प्रायः" ४।३।२६६

तत्र यत्नं कुर्वाणं एवं कृत्वेदं कुर्यादित्याह—

संल्लेखनाके प्रयत्न करनेकी रीति बताते हैं—

स्नेहं वैरं सङ्गं,
परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च,
क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥
आलोच्य सर्वमेनः,
कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रत-
मामरणस्थायि निश्शेषम् ॥१२५॥

स्वयं क्षान्त्वा प्रियैर्वचनैः स्वजनं परिजनमपि क्षमयेत् । किं कृत्वा ? अपहाय त्यक्त्वा । कं ? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धं । वैरमनुपकारके द्वेषानुबन्धं । संगं पुत्रस्त्र्यादिकं ममेदमहमस्येत्यादि-सम्बधं परिग्रहं बाह्याभ्यन्तरम् । एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सन् क्षमयेत । तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि । किं तत् ? महा-व्रतम्, कथंभूतम् ? आमरणस्थायि मरणपर्यन्तं, निःशेषं च पंच प्रकारमपि । किं कृत्वा ? आलोच्य । किं तत् ? एनो दोष । किं तत् ? सर्वं कृतकारितानुमतं च । स्वयं हि कृत हिंसादिदोष, कारितं हेतु-भावेन, अनुमतमन्येन क्रियमाणं मनसा श्लाघितं । एतत्सर्वमेनो

निर्व्याजं दशालोचनादोषवर्जितं यथा भवत्येवमालोचयेत् । दश हि आलोचनादोषा भवन्ति । तदुक्तं–

आकंपिय अणुमाणिय जंदिट्ठं वादरं च सुहमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजण मव्वत्त तस्सेवी ॥१॥ इति ।

अन्वयः— श्रावकः शुद्धमनाः सन् स्नेहं वैरं संगं च परिग्रहम् अपहाय[1] प्रियैः वचनैः स्वजनम् अपि च परिजनम् क्षान्त्वा क्षमयेत् । तथा कृतकारितं च अनुमतं सर्वम् एनः निर्व्याजम् आलोच्य आमरणस्थायि[2] निश्शेषम्[3] महाव्रतम् आरोपयेत्[4] ॥१२५॥

निरुक्तिः–शुद्धं मनो यस्य स शुद्धमनाः । स्वस्य जनः, स्वश्चासौ स्वकीयश्चासौ वा जनः स्वजनः तं स्वजनम् । कृतं च कारितं चानयोः समाहारः कृतकारितम् । निर्गतः व्याजो दम्भो यस्मात्तद् निर्व्याजम् । मरणम् अभिव्याप्य इति आमरणम् । आमरणं तिष्ठतीत्येवं शीलम् आमरणस्थायि ॥

१–'शीले ऽजातौ णिन्' २।२।७८ इति णिन् ततः । 'कृञ्ञो युक्' ३।४।२।३७ निर्गता न संतः शेषा यस्मात् यस्मिन् वा तत् निश्शेषम् । २–ओहाक त्यागे धोः "परकालैककर्तृकात् "२।४।७ इति क्त्वा त्यः । पुनः अप शब्दस्य "ति" १।२।१६० इति ति संज्ञा ततः "तिचवाङ् दुः" १।३।८३ इति षसः । प्यस्त्विचाक्से त्वः ५।।३१ अनेन क्त्वा त्यस्य प्यः आदेशः । ३–आङ् पूर्वक रुह बीज जन्मनि इति धोः णिच् पुनः ४–"रुहः पः" ५।२।५० इति हकारस्य पकारादेशः ।

तत्र यत्नं कुर्वाणः एवं कृत्वेदं कुर्यादित्याह–

संल्लेखनाके प्रयत्न करनेकी रीति बताते हैं–

स्नेहं वैरं सङ्गं,
परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च,
क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥
आलोच्य सर्वमेनः,
कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रत-
मामरणस्थायि निश्शेषम् ॥१२५॥

स्वयं क्षान्त्वा प्रियैर्वचनैः स्वजनं परिजनमपि क्षमयेत्। किं कृत्वा? अपहाय त्यक्त्वा। कं? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धं। वैरमनुपकारके द्वेषानुबन्धं। संगं पुत्रस्त्र्यादिकं ममेदमहमस्येत्यादिसम्बधं परिग्रहं बाह्याभ्यन्तरम्। एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सन् क्षमयेत। तथा आरोपयेत स्थापयेदात्मनि। किं तत्? महाव्रतम्, कथंभूतम्? आमरणस्थायि मरणपर्यन्तं, निःशेषं च पंचप्रकारमपि। किं कृत्वा? आलोच्य। किं तत्? एनो दोष। किं तत्? सर्वं कृतकारितानुमतं च। स्वयं हि कृत हिंसादिदोषं, कारितं हेतुभावेन, अनुमतमन्येन क्रियमाणं मनसा श्लाघितं। एतत्सर्वमेनो

निर्व्याजं दशालोचनादोषवर्जितं यथा भवत्येवमालोचयेत् । दश हि आलोचनादोषा भवन्ति । तदुक्तं—

आकम्पिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥१॥ इति ।

अन्वयः—श्रावकः शुद्धमनाः सन् स्नेहं वैरं संगं च परिग्रहम् अपहाय[2] प्रियैः वचनैः स्वजनम् अपि च परिजनम् क्षान्त्वा क्षमयेत् । तथा कृतकारितं च अनुमतं सर्वम् एनः निर्व्याजम् आलोच्य आमरणस्थायि[1] निश्शेषम्[3] महाव्रतम् आरोपयेत्[4] ॥१२५॥

निरुक्तिः—शुद्धं मनो यस्य स शुद्धमनाः । स्वस्य जनः, स्वश्चासौ स्वकीयश्चासौ वा जनः स्वजनः तं स्वजनम् । कृतं च कारितं चानयोः समाहारः कृतकारितम् । निर्गतः व्याजो दम्भो यस्मात्तद् निर्व्याजम् । मरणम् अभिव्याप्य इति आमरणम् । आमरणं तिष्ठतीत्येवं शीलम् आमरणस्थायि ॥

१–'शीले ऽजातौ णिन्' २।२।७८ इति णिन् ततः । 'कृञो युक्' ३।५।२।३७ निर्गता न संतः शेषा यस्मात् यस्मिन् वा तत् निश्शेषम् । २–ओहाक त्यागे धोः "परकालैककर्तृकात् "२।४।७ इति क्त्वा त्यः । पुनः अप शब्दस्य "ति" १।२।१६० इति ति संज्ञा ततः "तिकवाङ् दुः" १।३।८३ इति षसः । प्यस्तिवाकसे त्वः ५।१।३१ अनेन क्त्वा त्यस्य प्यः आदेशः । ३–आङ् पूर्वक रुह बीज जन्मनि इति धोः णिच् पुनः ४–"रुहः पः" ५।२।५० इति हकारस्य पकारादेशः ।

अर्थ—समाधि का इच्छुक श्रावक शुद्धमनवाला होता हुवा उपकारियोंसे स्नेह, विरोधियोंसे द्वेषभाव, पुत्रादिकोंसे ममकार अहंकार आदि, संग (मिलाप) और बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह इनका परित्याग कर मिष्ट वचनोंसे कुटुम्बीजनोंको तथा परिजनोंको (इष्ट मित्र विरोधिजनोंको) क्षमा करै और उनसे क्षमा करावे, तथा किये हुवे कराये हुवे अनुमोदना किये हुवे समस्त पापोंकी निर्दोष आलोचना कर मरणपर्यन्त ठहरनेवाले ऐसे समस्त [परिपूर्ण] महाव्रतोंको धारण करै ॥ १२४-१२५ ॥

एवं त्रिधामालोचनां कृत्वा महाव्रतमारोप्यैतत् कुर्यादित्याह—

महाव्रतोंको धारण कर इन इनका त्याग ग्रहण करै।

शोकं भयमवसादं, क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च, मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥

'प्रसाद्यं' प्रसन्नं कार्यं। किं तत्? मनः। कैः? श्रुतैरागमवाक्यैः। कथंभूतैः? अमृतैः अमृतोपमैः संसारदुःखसन्तापापनोदकैरित्यर्थः। किं कृत्वा? हित्वा। किं तदित्याह--शोकमित्यादि शोकं—इष्टवियोगे तद्गुणशोचनं, भयं—क्षुत्पिपासादिपीडानिमित्तमिहलोकादिभयं वा, अवसादं विषादं खेदं वा, क्लेदं स्नेहं, कालुष्यं क्वचिद्विषये रागद्वेषपरणतिं। न केवलं प्रागुक्तमेव अपि तु अरतिमपि अप्रसत्तिमपि। न केवलमेतदेव कृत्वा किन्तु उदीर्य च प्रकाश्य च। कं? सत्त्वोत्साहं सल्लेखनाकरणेऽकातरत्वम् ॥१२६॥

अन्वयः-शोकं भयम् अवसादम् क्लेदम् कालुष्यम् अपि अरतिं हित्वा च सत्त्वोत्साहम् उदीर्य अमृतैः श्रुतैः मनः प्रसाद्यम्।

निरुक्तिः-सत्त्वं च उत्साहं च अनयोः समाहारः सत्त्वोत्साहम्। प्रसादितुं योग्यं प्रसाद्यम्।

अर्थ—शोक, भय, विषाद, कलुषता, क्लेद, स्नेह और अरति इनको छोड़ कर बल और उत्साहको बढ़ा कर अमृतमयी श्रुतज्ञानसे (शास्त्रश्रवणसे) मनको प्रसन्न (स्वच्छ-निश्चित) करै। कायरता न लावे॥ १२६॥

इदानीं सल्लेखनां कुर्वाणस्याहारत्यागे क्रमं दर्शयन्नाह—

उसके आहारत्यागका क्रम दो कारिकाओंमें बताते हैं।

आहारं परिहाप्य,
क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा,
खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥ १२७॥

खरपानहापनामपि,
कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमना-
स्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन॥१२८॥

१-ओहाक् त्यागे धोः पूर्वकाले क्त्वा हाकः क्त्वि ७।४।४२ इति धोः हिः आदेशः।

स्निग्धं दुग्धादिरूपं पानं विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत् । किं कृत्वा ? परिहाप्य परित्यज्य । कं ? आहारं कवलाहाररूपं । कथं ? क्रमशः प्रागशनादिक्रमेण पश्चात् खरपानं कंजिकादिशुद्धपानीयरूपं वा । किं कृत्वा ? हापयित्वा । किं ? स्निग्धं च स्निग्धमपि पानकं । कथं ? क्रमशः । स्निग्धं हि परिहाप्य कंजिकादिरूपं खरपानं पूरयेत् विवर्धयेत् । पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानीयरूपं खरपानं पूरयेदिति ॥ १२७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा । कथं ? शक्त्या स्वशक्तिमनतिक्रमेण स्तोकस्तोकतरादिरूपं । पश्चादुपवासं कृत्वा तनुमपि त्यजेत् । कथं ? सर्वयत्नेन सर्वस्मिन् व्रतसंयमचारित्रध्यानधारणादौ यत्नस्तात्पर्यं तेन । किं विशिष्टः सन् ? पंचनमस्कारमनाः पंचनमस्कारा-ऽऽहितचित्तः ॥१२८॥

अन्वय—क्रमशः आहारम् परिहाप्य स्निग्धं पानं विवर्द्धयेत् च क्रमशः स्निग्ध पानं हापयित्वा खरपान पूरयेत्- अपि (पुनश्च) खरपानहापनामं[2] शक्त्या कृत्वा अपि उपवास कृत्वा पचनमस्कार—मनाः सन् सर्वयत्नेन तनु त्यजेत् ॥

निरुक्ति—खरस्य पानं खरपानम् खरपानस्य हापना इति

१-"बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्यामिष्टे" ४।२।५७ 'स्थैका-द्वीप्सायाम्' ४ २।५८ अन्यतराभ्याम् अनिष्टार्थे अल्पार्थकादि-बन्तात् । एकवचनाच्च वीप्सायां वा शस् । भिसंज्ञत्वाद् विभक्तोत्वम् । २-ओहाक् ण्यन्तात् 'ण्यासश्रन्थघट्टि वन्दोऽनः" । ३।३।१४ इति अनः स्त्रीत्वे टाप् ।

खरपानहापना ताम् । पंचनमस्कारे मनो यस्य सः पञ्चनमस्कार-मनाः । सर्वश्चासौ यत्नः प्रयत्न इति सर्वयत्नः तेन ॥

अर्थ–वह समाधिमरण करनेवाला श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार क्रमसे आहारको घटाकर नीरस पेयको ग्रहण करे और उस निसत्व पेयको भी त्याग कर उपवास-को करि पंचनमस्कारके स्वरूपमें मन लगाता हुआ सर्व-प्रकारके यत्नसे शरीरको त्यागे ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

अधुना संल्लेखनाया अतीचारानाह–

अब संल्लेखना नामक व्रतके [शीलके] अतीचार कहते हैं—

जीवितमरणाशंसे, भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
संल्लेखनातिचाराः, पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥

जीवितं च मरणं च तयोराशंसे आकांक्षे, भयमिह परलोकभयम्, इहलोकभयं हि क्षुत्पिपासापीड़ादिविषयं परलोकभयम्–एवंविधदुर्ध-रानुष्ठानाद्विशिष्टं फलं परलोके भविष्यति न वेति । मित्रस्मृतिः बाल्याद्यवस्थायां सहक्रीडितमित्रानुस्मरणं । निदानं भाविभोगाद्या-कांक्षणं । एतानि पंच नामानि येषां ते तन्नामानः संल्लेखानायाः पंचातिचारा जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः समादिष्टा आगमे प्रतिपादिताः॥ १२९॥

अन्वयः–जिनेन्द्रैः संल्लेखनातिचाराः पञ्च समादिष्टाः ।

१–घञि प्रायः ४।४।२१६ अत्र प्रायः ग्रहणात् क्वचिद्विकल्पः इति विकल्पपक्षे अति गेः न दीः । २ सम् आङ् पूर्वक दिश अति-सर्जने धोः कर्मणि क्तः । "व्रश्चभ्रस्ज" इत्यादिना ५।३।७१ षः ष्टुत्वं च । समादिष्टाः कथिताः ।

के ते पञ्च ? जीवितमरणाशंसाभयमित्रस्मृतिनिदाननामानः ॥

निरुक्तिः—जिनेषु इन्द्राः जिनेन्द्राः तैः जिनेन्द्रैः । संल्लेखनायाः अतिचाराः संल्लेखनातिचाराः । जीवितं च मरणं च जीवितमरणे । तयोः आशंसे इति जीवितमरणाशंसे । जीवितमरणाशंसे च भयश्च मित्रस्मृतिश्च निदानं च इति जीवितमरणाशंसाभयमित्रस्मृतिनिदानानि । तानि नामानि येषां ते तथा ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानने संल्लेखनाके अतीचार पांच कहे हैं (कौनसे वे पांच ?) जीनेकी अभिलाषा १ मरनेकी अभिलाषा २ परलोकका भय ३ इष्टमित्रादिकोंका याद करना ४ और निदान करना ५ ॥ १२९ ॥

एवंविधैरतिचारै रहितां संल्लेखनामनुतिष्ठन् कीदृशं फलं प्राप्नोतीत्याह—

उपर्युक्त धर्मग्रहणका फल बताते हैं—

निःश्रेयसमभ्युदयं,
निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निष्पिबति पीतधर्मा,
सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥ १३० ॥

निष्पिबति आस्वादयति अनुभवति वा कश्चित् सल्लेखनाऽनुष्ठाता । किं तत् ? निःश्रेयसं निर्वाणं । किंविशिष्टं ? सुखाम्बुनिधिं सुखसमुद्रस्वरूपं तर्हि सपर्यन्तं तद्भविष्यतीत्याह—निस्तीरं तीरात्पर्यन्तान्निष्क्रान्तम् । कश्चित्पुनस्तदनुष्ठाता अभ्युदयमिन्द्रादि-

सुखपरंपरां निष्पिबति। कथभूतं ? दुस्तरं महता कालेन प्राप्य-पर्यन्तं। किंविशिष्टः सन् ? सर्वैर्दुखैरनालीढः सर्वैः शारीरमानसादि-भिर्दुःखैरनालीढोऽसंस्पृष्टः। कीदृशः सन्नेतद्द्वयं निष्पिबति ? पीतधर्मा पीतोऽनुष्ठितो धर्म उत्तमक्षमादिरूपः चारित्रस्वरूपो वा येन ॥१३०॥

अन्वयः--पीतधर्माः श्रावकः सर्वैः दुखैः अनालीढः सन् निःश्रेयसं च अभ्युदयं निष्पिबति कथंभूतं निःश्रेयसम् ? निस्तीरं पुनः दुस्तरं पुनरपि सुखाम्बुनिधिम्। कथंभूतम् अभ्युदयम् ? निस्तीरं, पुनः दुस्तरं, पुनरपि सुखाम्बुनिधिम्।

निरुक्तिः-पीतः धर्मः येन सः पीतधर्मा न आलीढः अना-लीढः निश्चितं श्रेयः निश्रेयसम् निर्गतः तीरः यस्मात् यस्य वा निस्ती-रम्। दुखेन तीर्यते प्राप्यते इति दुस्तरम्। सुखानि एव अम्बूनि तेषां निधिरिति सुखाम्बुनिधिः तं तथा ॥

अर्थ—उपर्युक्त वर्णन किया हुआ सम्यग्दर्शन

पा पाने धोः "सति" २।२।१२० इति लट्। शप् पुनः "पाघ्रा-ध्मा स्था० इत्यादिना ५।२।८५ पिबादेशः पिबति निर् गेः प्राक्-प्रयोगे सति "निदुर्वहिश्चतुराविः प्रादुस" ५।४।३१ अनेन "निर्" गेः सिः। पुनः "त्यादेशयोः" ५।४।४३ इति षकारादेशः निष्पि-बति भुङ्क्ते सेवते। ३—लिहोञ् आस्वादने धोः आङ् पूर्वात् कः त्यः। होढः ५।३।६६ इति हस्ये ढः "अधः" ५।३।७७ ष्टुना ष्टुः ५।४।१३६ ढोढि खम् ५।४।११ ढ्लोऽणः ४।३।२०२ एभिः सिद्धम्।

२—"धर्मात्केवलादन्" ४।२।१६१ अनेन धर्मशब्दात् अन् सान्तः।

सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूप धर्मको जिन्होंने धारण कर लिया है ऐसे श्रावक सम्पूर्ण दुखोंसे रहित होते हुवे मोक्षको और अभ्युदय सुखको पीते हैं भोगते हैं। कैसा है वह मोक्ष? नहिं है अन्त जिसका और बड़े मुश्किलसे प्राप्त होता है और सुखका समुद्र है। अभ्युदय कैसा है? बहुत दूर है अंत जिसका और बड़ी कठिनतासे प्राप्त होता है तथा जिसमें सुख अपार है ॥ १३० ॥

किं पुनर्निःश्रेयसशब्देनोच्यत इत्याह —

निश्रेयस किसको कहते हैं? इसका उत्तर बताते हैं—

जन्मजरामयमरणैः,शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्
निर्वाणं शुद्धसुखं, निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥

निःश्रेयसमिष्यते । किं ? निर्वाणं । कथंभूतं शुद्धसुखं शुद्धं प्रतिद्वन्द्वरहितं सुखं यत्र । तथा नित्यं अविनश्वरस्वरूपं । तथा परिमुक्तं रहितं । कैः ? जन्मजरामयमरणैः, जन्म च पर्यायान्तरप्रादुर्भावः, जरा च वार्द्धक्यं, आमयाश्च रोगाः, मरणं च शरीरादिप्रच्युतिः । तथा शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं ॥१३१॥

अन्वयः—गणधरैः निर्वाणम् निःश्रेयसम् इष्यते, कथंभूत नि-

१–नि पूर्वक वा गतिगन्धनयोः इति धोः "धिगत्यर्थाच्च" २।४।५५ इति कर्तरि क्तः । निर्वाणोवाते ५।३।६० इति तकारस्य नकारदेशः णत्वं च । निर्वातिस्मेति निर्वाणम् "निर्वाणमस्तंगमने निवृत्तौ गजमज्जने । संगमेऽप्यपवर्गेच इति मेदिनी । सप्तम परमस्थानमित्यर्थः । २–अतिशयेन प्रशस्य इति श्रेयः । प्रकृ-

वीणम् ? जन्मजरामयमरणैः शोकैः दुखैः च भयैः परिमुक्तम् पुनः नित्यम् पुनरपि शुद्धसुखम ॥

निरुक्ति--जन्म च जरा च आमयं च मरणं च इति जन्मजरामयमरणानि तैः तथा शुद्धं सुखं यस्मिन तत् शुद्धसुखम् ॥

अर्थ--गणधर भगवानने निर्वाण नामक परम स्थानको ही निश्रयस बताया है। कैसा है निर्वाण ? जो जन्म बुढ़ापा रोग मरण शोक दुःख और भय इनसे रहित है। नित्य है और निरंतराय है शुद्ध सुख जिसमें (ऐसा है) ॥ १३१ ॥

इत्थंभूते च निःश्रेयसे कीदृशाः पुरुषाः तिष्ठन्तीत्याह—

उस निश्रेयमें प्राप्त हुवे सिद्धपरमेष्ठी कैसे हैं ? ऐसा बताते हैं।

विद्यादर्शनशक्ति-स्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः ।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम्

निःश्रेयसमावसन्ति निःश्रेयसि तिष्ठन्ति। के ते इत्याह-विद्येत्यादि विद्या केवलज्ञानं, दर्शनं केवलदर्शनं, शक्तिरनन्तवीर्यं,

---

ष्टेऽर्थे तर त्यः। गुणाङ्गाद्वष्टेयस् ४।१।१६३ इति तरत्यस्य इयस् "प्रशस्यस्य श्रः" ४।१।१६४ इति प्रशस्य शब्दस्य श्र आदेशः। निश्चितं श्रेयः इति निम् श्रेयसम् । "निःश्रेयसः" ४।२।११८ अनेन च सान्तः टः त्यः।

स्वास्थ्यं परमोदासीनता, प्रह्लादोऽनन्तसौख्यं, तृप्तिर्विषयानाकांक्षा, शुद्धिर्द्रव्यभावस्वरूपकर्ममलरहितता, एता युजन्ति आत्मसम्बद्धाः कुर्वंति ये ते तथोक्ताः। तथा निरतिशया अतिशयाद्धिबादिगुण-हीनाधिकभावान्निष्क्रान्ताः। तथा निरवधयो नियतकालावधि-रहिताः। इत्थंभूता ये ते नि.श्रेयसमावसन्ति। सुखं सुखरूपं निःश्रे-यसम् अथवा सुख यथा भवत्येवं ते तत्रावसन्ति ॥१३२॥

अन्वयः--विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः निर-तिशया निरवधयः सन्तः निश्रेयसं सुखं यथा स्यात्तथा आव-सन्ति ॥१३२॥

निरुक्तिः-विद्या च दर्शनं च शक्तिश्च स्वास्थ्यं च प्रह्लादश्च तृप्तिश्च शुद्धिश्च इति विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धयः ताः युजन्ति ते तथा। निर्गतो अतिशयो येभ्यः ते निरतिशयाः। निर्गता अवधयो येभ्यः ते निरवधयः ॥

अर्थ- वे सिद्धपरमेष्ठी केवलज्ञान केवलदर्शन अनन्त वीर्य परम उदासीनता अनंत सुख, विषयोंकी अभिलाषा रहित द्रव्य भावकर्मों। रहित, परस्परमें न्यूनाधिकता रहित और कालावाधरहित होते हुवे उस निश्रेयसमें सुखस्वरूप स्थिर रहै उस प्रकार निवास करते हैं ॥१३२॥

१-"वसोऽनूपाध्याङः" १।२।१४२ इति अधिकरणकारकस्य कर्म संज्ञा "कर्मणीप्।" द्वितीया विभक्ती।

अनन्ते काले गच्छति कदाचित् सिद्धानां विकारोऽन्यथाभावो भविष्यत्यतः कथं निरतिशया निरवधयश्चेत्याशंकायामाह—

उनके निरतिशयता और निरवधिपना कभी भी नष्ट नहीं होता ऐसा बताते हैं।

काले कल्पशतेऽपि च,
गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात्,
त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥१३३॥

न लक्ष्या न प्रमाणपरिच्छेद्या। कासौ? विक्रिया विकारः स्वरूपान्यथाभावः। केषां? शिवानां सिद्धानां। कदा? कल्पशतेऽपि गते काले। तर्हि उत्पातवशात्तेषां विक्रिया स्यादित्याह--उत्पातोऽपि यदि स्यात् तथापि न तेषां विक्रिया लक्ष्या। कथंभूतः उत्पातः? त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः त्रिलोकस्य सम्भ्रान्तिरावर्त्तस्तत्करणे पटुः समर्थः॥ १३३॥

अन्वयः—कल्पशते अपि च काले गते शिवानां विक्रिया न लक्ष्याः यदि त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः उत्पातोऽपि स्यात्॥

१—करण क्रिया। डुकृञ् करणे धोः "कुः शश्च" २।३।६० इति क्यप्। विरुद्धा क्रिया विक्रिया। २—अस् भुवि धोः "जातुयद्यदायदौ लिङ्" २।३।१३८ इति अश्रद्धायां यदि योगे लिङ् लकारः। न मे प्रत्ययो यदि त्रिलोकसंभ्रान्तिकर उपद्रवः स्यात् भवेत्? नहि एतादृशः उत्पातो भविष्यति न च ते सिद्धा-स्मान उत्पतिष्यन्तीति भावः।

निरुक्तिः—कल्पानां शतम् कल्पशतम् तस्मिन् । त्रिलोकस्य संभ्रान्तिः त्रिलोकसंभ्रान्तिः तस्याः करणे विधाने पटुः समर्थः इति त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥

अर्थ--सैकड़ों कल्पकालोंके व्यतीत होनेपर भी सिद्ध परमात्माके विकार नहीं होता। यदि कदाचित् तीन लोक को भ्रमण करानेमें समर्थ ऐसे उपद्रव भी हो जांय तो हो जांय किंतु तो भी सिद्धोंमें विक्रिया नहीं होती अर्थात् न तीन लोकको उलटनेवाला कभी उपद्रव होता है और न सिद्धोंके विकार होता है ॥ १३३ ॥

ते तत्राविकृतात्मानः सदा स्थिताः किं कुर्वन्तीत्याह—

वे शुद्ध परमात्मा तहां निरन्तर ठहरे हुवे क्या करते हैं? सो बताते हैं--

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते
निष्किट्टिकालिकाच्छवि,चामीकरभासुरात्मानः ॥

निःश्रेयसमधिपन्नाः प्राप्तास्ते दधते धरन्ति । कां ? त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं त्रैलोक्यस्य शिखा चूडाऽग्रभागस्तत्र मणिश्रीः चूडामणिश्रीः ताम् । किंविशिष्टाः सन्तः--इत्याह—निष्किट्टेत्यादि किट्टं च कालिका च ताभ्यां निष्क्रान्ता सा छविर्यस्य तच्चामीकारं च सुवर्णं तस्येव भासुरो निर्मलतया प्रकाशमान आत्मा स्वरूपं येषाम् ॥ १३४ ॥

अन्वयः–निश्रेयसम् अधिपन्नाः पुरुषाः निष्किट्टकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः सन्तः त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते ॥

निरुक्तिः-किट्टं च कालिका च किट्टकालिके, निर्गते किट्टकालिके यस्या सा निष्किट्टकालिका । निष्किट्टकालिकाच्छविर्यस्य तत् निष्किट्टकालिकाच्छवि । निष्किट्टकालिकाच्छवि च यत् चामीकरं तत् निष्किट्टकालिकाच्छविचामीकरम् तस्य इव भासुरो निर्मल आत्मा स्वरूपो येषां ते तथा ॥

१—अधिकरणकारके "कालाध्वभावदेशं वाऽकर्म धानाम्" १।२।१४४ अनेन कर्मसंज्ञा । २ अधिपूर्वकपद्गतौ धोः क्तः त्यः । द्रात्तस्य तोनोऽमत्पृमूर्छाम् ५।३।८० इति दकारतकारयोः नकारादेशौ । निर्वाणे मोक्षे प्राप्ता प्रतिष्ठिता इति यावत् ।

३–कालः कृष्णवर्णोऽस्ति अस्यामिति कालिकः "आर्हाट्ठण् ३।४।२२ अनेण ठण् त्यः कालवर्ण एव कालिका "ठण्" ४।२।२१६ इति स्वार्थे ठण् । "कालिमच्छवि" पाठे तु कालस्य कृष्णवर्णस्य भावः स्वरूप इति कालिमा "वर्णदृढादिभ्यष्ट्यण् च ३।४।१४० इति इमन् ।

४–भासते इति भासुरः भास दीप्तौ धोः "भास् मिदभञो घुरः" २ २।१५७ इति घुर त्यः ।

५–त्रिलोक एव त्रैलोक्यम् पथः । "भेषजादिभ्यष्ट्यण्" ४।२।२८ अनेन स्वार्थे ट्यण् ।

६–धाञ् धारणे च "हृदादेरुजुप्" ५।१।८२ इति शप उच्लिकुच्कचि धोः ४।३।१२ इति द्वित्वम् । कादत् ५।१।४ इति अस्य अत् आदेशः । दधते धरन्ति ।

अर्थ-मोक्षमें प्राप्त हुये पुरुष कीट और कालिमा रहित है छवि जिसकी ऐसे सुवर्णके समान देदीप्यमान है स्वरूप जिनका ऐसे होते हुवे तीन लोकके चूड़ामणिकी शोभाको धारण करते रहते हैं ॥ १३४ ॥

एवं संल्लेखनामनुतिष्ठता निःश्रेयसलक्षणं फलं प्रतिपाद्य अभ्युदयलक्षणं फलं प्रतिपादयन्नाह -

जो संल्लेखना करनेवालेके रत्नत्रयसे अभ्युदय होता है उसका स्वरूप बताते हैं।

पूजार्थाज्ञैश्वर्यै-र्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवन मद्भुत मभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥

अभ्युदयं इन्द्रादिपदावाप्तिलक्षणं फलति अभ्युदयफलं ददाति। कोऽसौ ? सद्धर्मः सल्लेखनानुष्ठानोपार्जितं विशिष्टं पुण्यम्। कथंभूतमभ्युदयम् ? अद्भुतं साश्चर्यं । कथंभूतं तदद्भुतं अतिशयितभुवनं यतः । कैः कृत्वा ? पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः ऐश्वर्यशब्दः पूजार्थाज्ञानां प्रत्येकं सम्बध्यते । किं विशिष्टैरेतैरित्याह-बलेत्यादि बलं सामर्थ्यं, परिजनः परिवारः, कामभोगौ प्रसिद्धौ । एतैर्भूयिष्ठा अतिशयेन बहवो येषु। एतैरुपलक्षितैः पूजादिभिरतिशयितभुवनमित्यर्थः ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थः--सद्धर्मः अद्भुतम् बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः पूजार्थाऽऽज्ञैश्वर्यैः अतिशयितभुवनम् अभ्युदयम् फलति ॥ १३५॥

निरुक्तिः-सन् सम्यङ् चासौ धर्मः सद्धर्मः। बलश्च परिजनश्च कामश्च भोगश्चेति बलपरिजनकामभोगाः। ते भूयिष्ठाः बहुतमाः येषु तैः तथा। पूजाश्च अर्थश्च आज्ञा चेति पूजार्थाज्ञाः। तासाम् च ऐश्वर्याणि इति। तैः अतिशयितम् उत्कृष्टम् भुवनम् पदं लोको यस्मिन् स तं तथास्वरूपम्॥१३५॥

अर्थ--वह उत्तम धर्म आश्चर्यकारी और बल(सामर्थ्य) परिजन काम भोग ये हैं प्रचुर जिनमें ऐसे तथा पूजाका ऐश्वर्य धनसम्पत्तीका ऐश्वर्य और आज्ञाका ऐश्वर्य इनकरि उत्कर्ष (महत्त्व) युक्त ऐसे पद (परमस्थान) को फले है अर्थात् इन्द्रपद चक्रवर्तीपद और तीर्थंकरपदको प्राप्त करता है॥ १३५॥

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि
उपासकाध्ययने गौरीलाल सिद्धान्तशास्त्रिणा
निरुक्तायां पञ्जिकायां हिन्दीभाषायां च सद्
वृत्ताधिकारे संल्लेखना वर्णनो नाम
षष्ठः परिच्छेदः।

१-प्रचुराः बहव इति भूयिष्ठाः 'भूयिष्ठे' ५।४।१६७ अनेन भू यादेशः। २-अति पूर्वात् शीङ् स्वप्ने धातोः क्तः इडागमश्च।

देश व्रतिकेषु श्रेणीभेदाधिकारः सप्तमः

साम्प्रतं योऽसौ संल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशंक्याह---

सम्यग्दर्शन अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत और संल्लेखना इन चौदह गुणोंको (व्रतोंको) धारण करनेवाले श्रावकोंके श्रेणि (पद-स्थान-प्रतिमा-भेद) हैं या नहीं? यदि हैं तो कितने हैं और उनके चारित्र कैसे हैं? ऐसा बताते हैं-

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह, संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥

देशितानि प्रतिपादितानि। कानि? श्रावकपदानि श्रावकगुणस्थानानि श्रावकप्रतिमा इत्यर्थः। कति? एकादश। कै? देवैस्तीर्थंकरैः। येषु श्रावकपदेषु खलु स्फुटं सन्तिष्ठन्तेऽवस्थितिं कुर्वन्ति। के ते? स्वगुणाः स्वकीयगुणस्थानसम्बद्धाः गुणाः। कैः सह? पूर्वगुणैः पूर्वगुणस्थानवर्तिगुणैः सह। कथंभूताः? क्रमविवृद्धाः सम्यग्दर्शनमादिं कृत्वा एकादशपर्यन्तमेकोत्तरवृद्धया क्रमेण विशेषेण वर्धमानाः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—देवैः श्रावकपदानि एकादश देशितानि, येषु स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह खलु क्रमविवृद्धाः सन्तः सन्तिष्ठन्ते ॥

१—"सहार्थेन" १।४।२४ अनेन सम्बन्धे भा विभक्ती।

२—"ष्ठा गतिनिवृत्तौ" इति म (परस्मैपद) संज्ञकादपि धो

निरुक्तिः-श्रावकस्य पदानि गुणस्थानानि इति श्रावकपदानि । स्वस्य गुणाः चारित्राणि स्वगुणाः । पूर्वस्य गुणाः व्रतानि पूर्वगुणाः तैः पूर्वगुणैः । क्रमेण विवृद्धाः ते क्रमविवृद्धाः ।

अर्थ--गणधर देवोंने श्रावकोंके ग्यारह पद उपदेशे हैं (बताये हैं) जिसमें अपने अपने पदके चारित्र पूर्वपदके चारित्रोंसे युक्त होते हुये ही क्रमसे बढ़ते हुये (तदयार-परिपुष्ट होते) रहते हैं ॥ १३६ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह–

उनमेंसे प्रथम दार्शनिक श्रावकका लक्षण कहते हैं–

सम्यग्दर्शनशुद्धः, संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पञ्चगुरुचरणशरणो,दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः १३७

दर्शनमस्यास्तीति दर्शनिको दर्शनिकश्रावको भवति । किंविशिष्टः ? "सम्यग्दर्शनशुद्धः" सम्यग्दर्शनं शुद्धं निरतिचारं यस्य असंयतसम्यग्दृष्टिः, (दृष्टेः) कोऽस्य विशेष इत्यत्राह- "संसारशरीरभोगनिर्विण्ण" इत्यनेनास्य लेशतो व्रतांशसंभवात्ततो विशेषः प्रतिपादितः । एतदेवाह--तत्त्वपथगृह्यः तत्त्वानां व्रतानां पन्थानो मार्गाः मद्यादिनिवृत्ति--लक्षणा अष्टमूलगुणास्ते गृह्याः पक्षा यस्य । पंचगुरुचरणशरणः पंचगुरवः पंच परमेष्ठिनस्तेषां चरणाःशरणमपायपरिरक्षणोपायो यस्य ॥ १३७ ॥

'"सं व्यवप्रात्"१।२।२१ अनेन द पदम् । संतिष्ठन्ते तत्रचारित्राणि संस्थानं कुर्वन्ते ।

अन्वयः--सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पञ्च-गुरुचरणशरणः तत्त्वपथगृह्यः स दर्शनिकः श्रावकः भवति ॥१३७॥

निरुक्तिः--सम्यग्दर्शनेन शुद्धः सः सम्यग्दर्शनशुद्धः । संसारश्च शरीरश्च भोगश्च इति संसारशरीरभोगाः । संसारशरीरभोगेभ्यः निर्विण्णः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पञ्च ते गुरवः पञ्चगुरवः । पञ्चगुरूणां चरणयोः शरणं यस्य स पञ्चगुरुचरणशरणः । दर्शनं विद्यते यस्य सः दर्शनिकः । तत्त्वस्य चारित्रस्य पन्थाः तत्त्वपथः तत्त्वपथस्य गृह्यः तत्त्वपथगृह्यः ॥

अर्थ- जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है संसार शरीर भोग इनसे विरक्त है (अच्छा नहीं समझता है) पञ्चपर-मेष्ठीके चरणोंका ही है शरण जिसको और चारित्र-मार्गकी पक्षमें है (चारित्रके अंशोंको ग्रहण किये हुये है) सो दार्शनिक श्रावक है (प्रथम पदस्थ है) ॥१३७॥

(१) निस्पूर्वक विद धातोः क्तः "द्रास्तस्य तो नोऽमत्पृमूर्छा" ५।३।८० अनेन तस्य नकारादेशः । "रदे" ५।४।१४४ दस्य नित्यं नकारादेशः । पश्चात् "निर्विण्णः" ५।४।३१ अनेन णकारादेशः । "ष्टुना ष्टुः" ५।३।१३६इति नस्यापि णः । निर्विण्णः पस्य आत्मानं रक्षितुकामः ।

(२) दर्शनं शीलं यस्य स दर्शनिकः । शीले ठण् । दर्शने भक्तिरस्य "भक्तिः" ३।३।८० "कुशलः" ३।३।१८ आभ्यां च ठः,

तस्येदानीं परिपूर्णदेशव्रतगुणसम्पन्नत्वमाह--

व्रतिक श्रावकका लक्षण कहते हैं—

निरतिक्रमणमणुव्रत-पञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि
धारयते निःशल्यो, योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः॥

व्रतानि यस्य सन्तीति व्रतिको मतः। केषाम्? व्रतिनां गणधरदेवादीनाम्। कोऽसौ? निःशल्यः मिथ्यानिदानमायाशल्येभ्यो निष्क्रान्तो निश्शल्यः सन्, योऽसौ धारयते। किं तत्? निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि पंचाप्यणुव्रतानि निरतिचाराणि धारयते इत्यर्थः।

अथवा दर्शनं विद्यतेऽस्येति दर्शनिकः। "अतोऽनेकाचः" ४।१।७६ इति ठः।

(३) गृ ञ् उपादाने धोः "पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु ग्रहः ३।१।११६ अनेन पक्ष्यार्थे क्यप् रयः। तत्त्वं आप्ताऽऽगमतपस्विनः पथ पन्था मार्गः। तस्य (त्रितयस्य) गृह्याः पक्षः इति तत्त्वपथगृह्यः। 'गृह्यं गुदे अन्यभेदे क्लीबं ग्राम्यपुरे त्रिषु। अहासक्तमृगादौ ना त्रिषु चास्वैरिपक्ष्ययोः' इति मेदिनी कथनात् अत्र पक्ष्यार्थः गृह्यशब्दः स्वीक्रियते। भावार्थ--जिनेन्द्रदेव सिद्धान्त शास्त्र और दिगम्बर तपस्वी इन तीनोंको उपासकाध्ययनमें तत्त्व कहते हैं और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको मार्ग कहते हैं। तत्त्व और पन्थाकी (मार्गत्रितयकी) हो है पक्ष (तरफदारी) जिसको वह दर्शनिक श्रावक है, इसीका दूसरा नाम पाक्षिक है (तत्त्वमार्गकी-समीचीन चारित्र की है पक्ष प्रवृत्ति-तरफदारी जिसको।

न केवलमेतदेव धारयते अपि तु शीलसप्तकं चापि, त्रिःप्रकार-गुणव्रतचतुःप्रकारशिक्षाव्रतलक्षणं शीलम् ॥ १३८ ॥

अन्वय—असौ व्रतिनां व्रतिकः[2] मतः। असौ कः ? यः निश्शल्यः सन् निरतिक्रमणमपि अणुव्रतपंचकम् अपि च शील-सप्तकं धारयते ॥

निरुक्तिः—निर्गतम् अतिक्रमणं यस्मात्तद् निरतिक्रमणम् अणुव्रतानां पंचकम् अणुव्रतपंचकम्। शीलानां सप्तकं शीलसप्त-कम्। शल्येभ्यो निर्गतः सः निश्शल्यः।

अर्थ—इस श्रावकको गणधरदेवोंने व्रतिक (दूसरा पद-धारी) श्रावक माना है। जो शल्यरहित होता हुआ निरति-चार तो पांच अणुव्रतोंको तथा सात शीलोंको धारण करता है ॥१३८॥

अधुना सामायिकगुणसम्पन्नत्वं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

चतुर्थ श्रावकके आचरणीय आचार बताते हैं—

चतुरावर्त्तत्रितय-
श्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः ।

१—"क्तस्य सदाचार सतोः" १।४। ८० अनेन कर्तरि-कारके ता (षष्ठी) विभक्ती। २—व्रतानि विद्यन्तेऽस्येति व्रतिकः। "अतोऽनेकाचः" ४।१।७६ इति मत्वर्थो ठः।

३—"ञीन्मत्यर्धार्थशील्यादिभ्यः क्तः" २।२।१८१ अनेन मनु अवबोधने धोः वर्तमानकाले क्तः। असौ व्रतिभिर्व्रतिकोऽव-बुध्यते इति वाक्यार्थः।

सामयिको द्विनिषद्य-
स्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी १३९

सामयिकः समयेन प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण चरतीति सामयिकगुणोपेतः । किंविशिष्टः ? चतुरावर्तत्रितयः चतुरो वारानावर्तत्रितयं यस्य एकैकस्य हि कायोत्सर्गस्य विधाने 'णमो अरहंताणस्य थोसामे,श्चाद्यन्तयोः प्रत्येकमावर्तत्रितयमिति चत्वार आवर्ताः । तथा तदाद्यन्तयोरेकैकप्रणामकरणाच्चतुःप्रणामः । स्थित ऊर्ध्वकायोत्सर्गोपेतः । यथाजातो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्तः । द्विनिषद्यो द्वे निषद्ये उपवेशने यस्य देववन्दनां कुर्वता हि प्रारंभे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः । त्रियोगशुद्धः त्रयो योगा मनोवाक्कायव्यापाराः शुद्धाः सावद्यव्यापाररहिता यस्य । अभिवन्दी अभिवन्दत इत्येवं शीलः । कथं ? त्रिसंध्यम् ॥१३९॥

अन्वयः--असौ सामयिकः[1] श्रावकः भवति । असौ कः यः चतुरावर्तत्रितयः चतुःप्रणामः स्थितः, यथाजातः, द्विनिषद्यः, त्रियोगशुद्धः पुनः त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ।

निरुक्तिः—चत्वारश्च ते आवर्ताः चतुरावर्ताः । चतुरावर्तानाम् त्रितयो यस्य यस्मिन् वा सः चतुरावर्तत्रितयः । चत्वारः प्रणामाः यस्य यस्मिन् वा सः चतुःप्रणामः । द्वे निषिद्ये यस्य सः

१–समयः–आत्मा प्राप्तो यस्य प्रतिकस्येति सामयिकः । समयात्प्राप्तात ।३४।१२० इति ठञ्

द्विनिषद्यः । त्रिभिः योगैः शुद्धः त्रियोगशुद्धः सम्यग् ध्यायन्ति इति सम्यग् ध्यानं वा सम्यग् ध्यायन्ति अस्यां वा सन्ध्या ।

अथवा श्रीप्रभाचन्द्राचार्यटीकाकारैः "कथं त्रिसन्ध्यम्" इति कथनात् क्रियाविशेषणं प्रतिभाति, तदा एवं निरुच्यते । सम्-सम्यग् ध्यायते चिन्त्यते ध्यै चिन्तायामिति डः संध्यम्-धर्म्यध्यानमित्यर्थः, त्रयाणां संध्यानां धर्म्यध्यानानाम् आज्ञापाय-विपाकानां समाहार इति त्रिसन्ध्यम् । पञ्चमगुणस्थाने धर्म्य-ध्यानानि त्रीणि एव । न तु संस्थानविचयः, इति सिद्धान्त-कथनात् । श्रीप्रभाचन्द्रकथनं "कथं त्रिसन्ध्यमिति" वाक्ययोजना धर्म्यध्यानत्रयं यथाभवति तथा अभिवन्दनशीलः स्यात् ॥१३९॥

अर्थ—वह सामायिकपदधारी श्रावक होता है (वह कौन ?) जो तीन तीन आवर्तोंको चार दफे करता है । चार प्रणाम करता है । खड़ा हुआ, बाह्य आभ्यंतर चिंतासे खाली यथाजात है, खड़ग्रासन और पद्मासनमें बैठ कर प्रणाम करे है, मन वचन कायके व्यापार शुद्ध है सावद्य रहित है और रत्नत्रयमें एकता करता है और तीन काल समी-चीन—तीनों धर्म्य ध्यान होवे उस प्रकार वन्दना भक्ति करता है ॥१३९॥

१-षद्लृविशरणगत्यवसादनेषु इति धोः । निषीदन्त्यस्या-मिति निषद्या "शीङ्विन्निषन्निषन्निपद् मन् पुञ् समजः" २। ३।८६ इति खौ क्यप् । सदोऽप्रतेः ५।४।४६। अनेन षत्वम् ।

विशेषः - टीकायां श्रीप्रभाचन्द्राचार्यैः "कथं ? त्रिसंध्यम्" इति वचनात् न कालवाचकः संध्या शब्द इति प्रतीयते। मन्यते चेत्कालवाचकः तर्हि "कदा त्रिसंध्यम्" इति कथ्येत। इति विद्वद्भिर्विचारणीयमिति।

भावार्थ - वन्दनाकरै कैसे करे ? त्रिसंध्यम् तीनों समाचीन ध्यान अथवा तीनों समीचीन ध्यानोंका ध्याता जिसप्रकार होवे उसप्रकार वन्दना करे सो सामयिक श्रावक है। ऐसा संस्कृत टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्र स्वामीका भाव है।

साम्प्रत प्रोषधोपवासगुणव्रतं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह -

चतुर्थ प्रोषधानशन श्रावकके आचार बताते हैं।

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि, मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य
प्रोषधनियमविधायी, प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः ॥

प्रोषधेनानशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशनः। किमनियमेनापि यः प्रोषधोपवासकारी सोऽपि प्रोषधानशनव्रतसम्पन्न इत्याह-प्रोषधनियमविधायी प्रोषधस्य नियमोऽवश्यंभावस्तं विदधातीत्येवंशीलः। क्व तन्नियमविधायी ? पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि द्वयोश्चतुर्दश्योर्द्वयोश्चाष्टम्योरिति। किं चातुर्मास्यादौ तद्विधायीत्याह—मासे मासे। किं कृत्वा ? स्वशक्तिमनिगुह्यतद्विधाने आत्मसामर्थ्यमप्रच्छाद्य। किं विशिष्टः ? प्रणिधिपरः एकाग्रतां गतः शुभध्यानरत इत्यर्थः॥ १४० ॥

अन्वयः--यः मासे मासे चतुर्षु अपि पर्वदिनेषु स्वशक्तिम् अनिगुह्य प्रणिधिपरः सन् प्रोषधनियमविधायी भवति सः प्रोषधानशनः श्रावकः कथ्यते ॥

निरुक्तिः--पर्वाणि दिनानि पर्वदिनानि अथवा पर्वाणि च तानि दिनानि पर्वदिनानि तेषु पर्वदिनेषु । स्वस्य शक्तिः स्वशक्तिः ताम् । प्रोषधनेन प्रोषधे वा अनशनः इति प्रोषधानशनः ॥

अर्थ--जो प्रत्येक महीनेमें चारों पर्वके दिनोंमें अपनी शक्तिको न छिपा कर शुभ ध्यानमें लीन होता हुआ प्रोषधको अथवा प्रोषधके दिन उपवासको नियम पूर्वक अवश्य करता है सो प्रोषधानशन पदका धारी श्रावक ॥ १४० ॥

१-निपूर्वक गुहेञ् संवरणे धोः पूर्वकाले क्त्वा क्यबादेशः । न निगुह्य अनिगुह्य न तिरोधाय ।

२-निपूर्वक धाञ् धो 'गौ भोः किः" २।३।७८ अनेन कि स्यः । "नेर्गद्नदपतपद्घुमास्यति याति वाति द्राति प्साति वपौ वहै शमु चिञ् देञ् धौ" ५।४।१२० इति नेः णकारादेशः । प्रणिधिः--अवधानं प्रार्थनं वा तत्र परः लीनः । ३-प्रकृष्ट ओषधः प्रोषधः "तथौ ङि पर" ४।३।६३ इति अकार ओकारयोः स्थाने परः ओकारादेशः । तस्य नियमं विदधातीत्येवं शीलः । "शीलेऽजातौ णिन्" २।२।७८ इति णिन् । प्रोषधः सकृद्भुक्ति इति कारिका कथनात् १०।६

इदानीं श्रावकस्य सचित्तविरतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

सचित्तविरत पञ्चम श्रावकके व्रतविधान कहते हैं—

मूलफलशाकशाखा-करीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥

सोऽयं श्रावकः सचित्तविरतिगुणसम्पन्नः यो नात्ति न भक्षयति । कानीत्याह-मूलेत्यादि मूलं च फलं च शाकश्च शाखाश्च कोपलाः करीराश्च वंशाकिरणाः कंदाश्च प्रसूनानि च पुष्पाणि बीजानि च ताम्येतानि आमानि अपक्वानि यो नात्ति । कथंभूतः सन् ? दया-मूर्तिः दयास्वरूपः सकरुणचित्त इत्यर्थः ॥ १४१ ॥

अन्वय.—यः आमानि मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसून-बीजानि न अत्ति सोऽयं दयामूर्तिः सचित्तविरतः श्रावको भवति ॥

निरुक्तिः—मूलं च फलं च शाखा च शाकं च करीरश्च कन्दश्च प्रसूनं च बीजं च इति मूलफलशाकशाखाकरीरकंद-प्रसूनबीजानि । सचित्तेभ्यो विरतः सचित्तविरतः । दया एव मूर्तिः यस्यासौ दयामूर्तिः ॥

अर्थ- जो कच्चे मूल फल शाक शाखा करीर (कोपल) कन्द प्रसून पुष्प और बीजोंको नहीं खाता है वह दयामूर्ति सचित्तविरत पद वाला श्रावक होता है ॥१४१॥

अर्थात्—वनस्पति और जल ये दो ही वस्तु सदाचारी पुरुषोंके भक्ष्य हैं। वनस्पतिके अंग आठ होते हैं, मूल १

कन्द २ शाखा ३ करीर (कोपल) ४ शाक (पत्ते) ५ पुष्प ६ फल ७ बीज ८। इनमेंसे किसीके तीन-चार पांच ही (आदि) अंग होते हैं, इन वनस्पतिके किसी भी अंगको जो कच्चा हो- पका न हो उसे नहीं खावे है तथा सचित्त जल और लवणको भी नहीं खावै है इनको अग्नि आदिसे पका कर कूटकर पीसकर या उसमें तीक्ष्ण क्षार आदि मिलाकर खाता है।

अधुना रात्रिभुक्तिविरतिगुणं श्रावकस्य व्याचक्षाणः प्राह—

६। रात्रिभुक्तिविरत श्रावकके आचारणीय व्रत कहते हैं—

अन्नं पानं खाद्यं, लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्
स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः

स च श्रावको रात्रिभुक्तिविरतोऽभिधीयते यो विभावर्यां रात्रौ नाश्नाति न भुंक्ते। किं तदित्याह—अन्नमित्यादि, अन्नं भक्तमुद्गादि, पानं द्राक्षादि पानकं, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं द्रवद्रव्यं रब्ड्यादि। किंविशिष्टः? अनुकम्पमानमनाः सकरुणहृदयः। केषु? सत्त्वेषु प्राणिषु ॥ १४२ ॥

अन्वयः—यः सत्त्वेषु अनुकम्पमानमनाः सन् विभावर्याम् अन्नं

(१) अनुपूर्वक कपिङ् किञ्चिच्चलने धोः "लटः" ३।४।१३ शानः स्यः। "आने मुक्" ७।१।५६ अनुकम्पमानं दयमानमिति

(२) अद् भक्षणे धोः कः "दाशस्य तो नोऽमतप्रमूर्छाम्" ५।१।८० इति कृत्प्रत्ययाः नकारादेशौ। अद्यतेऽस्मेति अन्नम्

पानं खाद्यं लेह्यं न अश्नाति स च रात्रिभुक्तिविरतः श्रावकः भवति ॥

निरुक्तिः- रात्रौ भुक्तिः रात्रिभुक्तिः, रात्रिभुक्तेः विरतः इति रात्रिभुक्तिविरतः, अनुकम्पमानम् मनो यस्य सः अनुकम्पमानमनाः ॥

अर्थ-जो जीवोंपर दयायुक्त मनवाला होता हुआ रात्रिमें अन्न पेय खाद्य लेह्य पदार्थोंको नहीं खाता वही रात्रिभुक्तिविरत पद वाला श्रावक है ॥१४२॥

साम्प्रतमब्रह्मविरतत्वगुणं श्रावकस्य दर्शयन्नाह-

अब अब्रह्मविरति नामक सप्तम श्रावकके चरित्र बताते हैं ।

मलबीजं मलयोनिं, गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सम् ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गा-द्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥

अनंगात् कामाद्यो विरमति व्यावर्तते स ब्रह्मचारी । किं कुर्वन्? पश्यन् । किं तत्? अंगं शरीरं । कथंभूतमित्याह-मलेत्यादि मलं शुक्रशोणितं बीजं कारणं यस्य । मलयोनिं मलस्य मलिनतायाः अपवित्रत्वस्य योनिः कारणं । गलन्मलं गलन् स्रवन् मलो मूत्रपुरीषस्वेदादिलक्षणो यस्मात् । पूतिगन्धि दुर्गन्धोपेतं । बीभत्सं सर्वावयवेषु पश्यतां बीभत्सभावोत्पादकम् ॥१४३॥

अन्वयः-यः कामांगम् मलबीजम्, मलयोनिम्, गलन्मलम्,

---

(१) अश् भोजने सति काले लट् । तिश्च "क्र्यादेः श्ना" २।१।६५ इति श्ना । न अश्नाति-न अश्ना-न भुङ्क्ते ।

पूतिगन्धि बीभत्सं म् इति पश्यन् सन् अनंगात् विरमति स ब्रह्मचारी भूयते ॥ १४३ ॥

निरुक्तिः–मलम् बीजम् यस्य यस्मिन् वा तत् मलबीजं । मलस्य योनिः कारणम इति मलयोनिः तम् । गलन् मलो यस्मात् तत् गलन्मलम् । पूतिः गन्धो यस्मिन् तत् पूतिगन्धि । ब्रम्हणि आत्मनि चरति इत्येवंशीलः स ब्रह्मचारी ॥

अर्थ—जो मैथुनके साधक अंगोंको मलका बीज है (मलको पैदा करनेवाले हैं) मलका स्थान है, जिनसे मल झरता रहता है, दुर्गन्धि युक्त है, विरूप है, ऐसा

१—"पूयी विशरणे दुर्गन्धे च" पूय्यते इति पूतिः क्ति त्यः। सुपूत्यल्सुरभेर्गुणे गन्धस्येः ४।२।१६८ इति साम्तः इत्यः।

२—बध बन्धने धोः"निशानार्जनजिज्ञासा वैरूप्ये शान्दान्-मान्वधाद्दीश्चरस्य" २।१।४ अनेन वैरूप्येऽर्थे सन् त्यः। पुनः छित्वादि तत अच् घञ् वा त्यः। बीभत्सो विकृते पार्थे क्रूरे पापघृणात्मनोः इत्यजयकोषः।

३—दृशिर् प्रेक्षणे धोः शतृ—"पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्······ इत्यादिना" ५।२।८५ पश्य आदेशः। उगिदचां धेऽभ्वादेः' ५।१।५१ इति नुमागमः सुप्कार्यं च। पश्यन्, निश्चिन्वन्।

४—रमुङ् क्रीडायाम् इति धोः "व्यङ्परिभ्यश्च रमः" १।२।८५ इति म पदम्। (परस्मैपदम्)

५—ब्रह्मणि अमिथुने एकाकिनि आत्मनि चरति इत्येवं व्रत मस्य स ब्रह्मचारी "व्रताभीक्ष्ण्ये" २।२।८२ इति सूतार्थे णिन्।

समझ कर कामसे (मैथुनसे) विरक्त हो जाता है, वह ब्रह्मचारी श्रावक है ॥१४३॥

इदानीमारम्भविनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह—

आरम्भत्यागी श्रावकके आचरण कहते हैं—

सेवाकृषिवाणिज्य-प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणातिपातहेतो-र्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१४४॥

यो व्युपारमति विशेषेण उपरतः व्यापारेभ्य आसमन्तात् जायते असावारम्भविनिवृत्तो भवति । कस्मात्? आरम्भतः । कथंभूतात्? सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्, सेवाकृषिवाणिज्याः प्रमुखा आद्या यस्य तस्मात् । कथंभूतात्? प्राणातिपातहेतोः प्राणानामतिपातो वियोजनं तस्य हेतोः कारणभूतात् । अनेन स्नपनदान-पूजाविधानाद्यारंभादुपरतिर्निराकृता । तस्याः प्राणातिपातहेतुत्वाभा-वात् प्राणिपीडापरिहारेणैव तत्सम्भवात् । वाणिज्याद्यारम्भादपि तथा संभवस्तर्हि विनिवृत्तिर्न स्यादित्यपि नानिष्टं प्राणिपीडाहेतोरेव तदारम्भात् निवृत्तस्य श्रावकस्यारम्भविनिवृत्तत्वगुणसंपन्नतो-पपत्तेः ॥ १४४ ॥

अन्वयः—यः प्राणातिपातहेतोः सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्

१—प्राणिति जीवति एभि रिति प्राणाः, प्रपूर्वक अन प्राणने धोः अच् घञ् वा । २—वणिजां कर्म वाणिज्यम् "भेषजादि-भ्यष्ष्यण्" ४।२।२८ इति ष्यण् ।

आरम्भतो व्युपारमति असौ आरम्भविनिवृत्तः श्रावकः कथ्यते ॥

निरुक्ति- सेवा च कृषिश्च वाणिज्यं चेति सेवाकृषिवाणिज्यानि। सेवाकृषिवाणिज्यानि प्रमुखाः आद्या यस्य तत् सेवाकृषिवाणिज्य प्रमुखम् , तस्मात्। प्राणानाम् अतिपातः इति प्राणातिपातः तस्य हेतुः इति प्राणातिपातहेतुः तस्मात्। आरम्भेभ्यः विनिवृत्तः[2] इति आरम्भविनिवृत्तः ॥

अर्थ-जो हिंसाके साधक हिंसाके कारणभूत ऐसे सेवाकर्म कृषिकर्म और वाणिज्यकर्म हैं मुख्य जिनमें ऐसे छहों प्रकारके व्यापारोंका त्याग करे है वह आरम्भविरति-पदका धारक श्रावक कहा जाता है ॥१४४॥

अधुना परिग्रहनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह--

परिग्रहत्याग श्रावकके आचरण बताते हैं-

बाह्येषु दशसु वस्तुषु,ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः स्वस्थः सन्तोषपरः, परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥

१-रमुङ् धाः "उपात्" १।३।८६ इति मम (परस्मैपदम्)।

२-निपूर्वक वृतु वर्त्तने धोः क्तः।

४-असि १ मसि २ कृषि ३ सेवा ४ शिल्प ५ और वाणिज्य ६ इनके तथा इनके भेद प्रभेदरूप व्याज शेयरहोल्डर मकानकिराया आदिसे द्रव्यका उपार्जन करना, बढ़ाना अर्थात् यह श्रावक मूल पुंजीका (संचित द्रव्यका) खर्चा तो करता है किन्तु किसी भी उपायसे उसे बढ़ाता नहीं।

परिसमन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहस्तस्माद्विरतः श्रावको भवति । किंविशिष्टः सन् ? स्वस्थो मायादिरहितः । तथा सन्तोषपरः परिग्रहाकांक्षाव्यावृत्त्या सन्तुष्टः । तथा निर्ममत्वरतः । किं कृत्वा ? उत्सृज्य परित्यज्य । किं तत् ? ममत्वं मूर्च्छां । क्व ? बाह्येषु दशसु वस्तुषु । एतदेव दशधा परिगणनं बाह्यवस्तूनां दर्श्यते ।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् ।
शयनासनं च यानं कुप्यं भाण्डमिति दश ॥

क्षेत्रं सस्याधिकरणं वडालिकादि (डोहलिकादि) वास्तु गृहादि । धनं सुवर्णादि । धान्यं व्रीह्यादि । द्विपदं दासीदासादि । चतुष्पदं गवादि । शयनं खट्वादि । आसन विष्टरादि । यानं डोलिकादि । कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयकादि । भाण्डं श्रीखण्डमंजिष्टाकांस्यताम्रादि ॥ १४५ ॥

अन्वयः–यः बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वम् उत्सृज्य निर्ममत्वरतः सन् स्वस्थः च संतोषपरः भवति स परिचित्तपरिग्रहाद् विरतः श्रावकः भवति ॥

निरुक्तिः--मम इत्यस्य भावो ममत्वम् । निर्गतं ममत्वम् यस्मात्

१—भाण्डशब्दोऽत्र मूलवणिग्धनवाचकोऽपि प्रतीयते । भाण्ड मूलवणिग्वित्ते तुरङ्गानां च मण्डने, नदीकूलद्वयोर्मध्ये भूषणे भाजनेऽपि च (इति हेमः) स्याद्भाण्डमश्वाभरणेऽमत्रेमूलवणिधने, इत्यमरः । भाण्डं पात्रे वणिग्मूलधने भूषाश्वभूषयोरिति मेदिनी । २-बहिर्भवाः बाह्यानि । ३-चिती संज्ञाने इति धोः "तः"

तत् निर्ममत्वम्। निर्ममत्वे रतः निर्ममत्वरतः। स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः। संतोषे परः तत्परः इति संतोषपरः। परिचित्तं च परिग्रहः इति परिचित्तपरिग्रहः तस्मात् ॥

अर्थ--जो बाह्य दश प्रकारके परिग्रहोंमें ममताको छोड़ निर्ममतामें रत होता हुआ आत्मामें लीन और संतोष में तत्पर है, सो परिचित्तपरिग्रहविरत श्रावक है ॥१४५॥

साम्प्रतमनुमतिविरतिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह —

अनुमति विरत के व्रतोंका वर्णन करते हैं—

अनुमतिरारम्भे वा, परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधी रनुमतिविरतः स मन्तव्यः

सोऽनुमतिविरतो मन्तव्यः--यस्य खलु स्फुटं नास्ति। काऽसौ? अनुमतिरभ्युपगमः। क्व? आरंभे कृष्यादौ। वा शब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चयार्थः। परिग्रहे वा धान्यदासीदासादौ। ऐहिकेषु कर्मसु वा विवाहादिषु। किंविशिष्टः? समधीः रागादिरहितबुद्धिः ममत्वरहितबुद्धिर्वा ॥ १४६ ॥

अन्वयः--यस्य खलु आरम्भे अनुमतिः नास्ति वा यस्य खलु

२।२।१०० इति क्तः पुनः डोग्रश्चादिद्धे टोऽपनस्तेः ५।१।१२८ अनेन नेट्, चित्तं मन इत्यर्थः। चित्तं परि-भृतं (स्थितं) परिचित्तम् "पर्यपाग्रहिरञ्चः" २।३।१० इति हसः। चित्तस्थः मनोगतः परिग्रहो मूर्छा ततो विरतः त्यक्तः विरक्तः।

१--अनुपूर्वक मनुङ्बोधने धोः क्तिः। "हन्मन्यमूरमूनम्-

परिग्रहे अनुमतिः नास्ति वा यस्य खलु ऐहिकेषु कर्मसु अनुमतिः नास्ति सः अनुमतिविरतः मन्तव्यः, कथंभूतः सः ? समधीः ॥

निरुक्तिः - इह (लोके) भवाः ऐहिकाः तेषु ऐहिकेषु । समा धीः बुद्धिः यस्य सः समधीः । अनुमत्या विरतः इति अनुमतिविरतः ॥

अर्थ—जिसकी कृषि आदि षट् कर्मोंमें अनुमति (अनुज्ञा) नहीं है, जिसकी परिग्रह बढ़ानेमें अनुमति नहीं है, जिसकी ऐहलौकिक विवाह आदिमें-पंचसूनादिकोंमें अनुमति (स्वीकृति) नहीं है, सो अनुमतिविरत श्रावक है। कैसा है वह श्रावक ? राग द्वेष रहित है बुद्धि (कृति-इरादा) जिसकी ॥१४६॥

इदानीमुद्दिष्टविरतिलक्षणगुणयुक्तत्वं श्रावकस्य दर्शयन्नाह—

अब उद्दिष्टविरतनामक ग्यारमें श्रावक पदका कर्तव्य बताते हैं।

गम्वनतितनादेर्ङ वं स्त्रले" ४।४।३६ इति नत्वम् । अनुमतिः अनुज्ञा स्वीकृतिरित्यर्थः २ अस्मिन्निति इह । "इदमोहः" ४।१।११८ अनेन हत् त्यः । हलि खम् । ५।१।१८७ अनेन इदः खम् इह (अस्मिन्) लोके भवाः ऐहिकाः इह लोकाय हितानि, इहलोके प्राप्तानि वा ऐहिकानि । तेषु । वाग्दानादिसम्बन्धेषु । न तु पारलौकिकेषु । ३-क्रियन्ते तानि कर्माणि, कृष्यादीनि पाकादीनि वा । कृञः ध्वोः मन् त्यः ।

गृहतो मुनिवनमित्वा,गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ।१४७।

उत्कृष्टः उद्दिष्टविरतिलक्षणैकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको भवति । कथंभूतः ? चेलखण्डधरः कोपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्यलिंगधारीत्यर्थः, तथा भैक्ष्याशनो भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं तदश्नातीति भैक्ष्याशनः । किं कुर्वन् ? तपस्यन् तपः कुर्वन् । किं कृत्वा परिगृह्य गृहीत्वा । कानि ? व्रतानि । क्व ? गुरूपकण्ठे गुरुसमीपे । किं कृत्वा ? इत्वा गत्वा । किं तत् ? मुनिवनं मुन्याश्रमं कस्मात् ? गृहतः ॥१४७॥

अन्वयः–श्रावकः गृहतो मुनिवनम् इत्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य तपस्यन् सः उत्कृष्टः श्रावकः भवति कथंभूतः श्रावकः ? भैक्ष्याशनः, पुनः चेलखण्डधरः ॥

निरुक्तिः–मुनीनां वनम् आश्रमम् इति मुनिवनम्, गुरूणाम् उपकण्ठ इति गुरूपकण्ठः तस्मिन् । भिक्षाणाम् समूहो भैक्ष्यम् स एव अशनं यस्य स भैक्ष्याशनः । चेलस्य खण्ड धरतीति चेलखण्डधरः

अर्थ—जो अपने घरको छोड़कर मुनि आश्रममें जाकर गुरुके समीप व्रतोंको धारण कर तप करता है वह उत्कृष्ट श्रावक है । कैसा है वह श्रावक ? भिक्षा ही है भोजन जिसका तथा बिना सिला हुआ खण्ड वस्त्रको पहनता है॥१४७

तपः कुर्वन्नपि यो ह्यागमज्ञः सन्नेवं मन्यते तदा श्रेयो ज्ञाता भवतीत्याह,–

जो तपस्वी—उद्दिष्टविरति उत्कृष्ट अणुव्रती आगमको जानता हुवा ही ऐसी मान्यता—निश्चय कर लेता है तब ही वह उत्कृष्ट सुखका ज्ञाता (भोक्ता) होगा ऐसा बताते हैं।

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति*१४८

यदि समयम् आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयो ज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति। किं कुर्वन्? निश्चिन्वन्। कथमित्याह-पापमित्यादि—पापमधर्मोऽरातिः शत्रु-र्जीवस्यानेकापकारकत्वात् धर्मश्च बन्धुर्जीवस्यानेकोपकारकत्वादित्येवं निश्चिन्वन्।

अन्वयः—जीवस्य अरातिः पापम् जीवस्य बन्धुः धर्मः इति निश्चिन्वन् सन् यदि समयं जानीते तदा स ध्रुवम् श्रेयो ज्ञाता भवति॥

अर्थ—जीवका शत्रु पाप कर्म ही है अन्य कोई भी नहीं

---

* समयं यदि जानीत, श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भविता। ऐसा पाठ ठीक ज्ञात होता है अर्थ भी गंभीर है परञ्च संस्कृत टीकामें जानीते आगमज्ञो यदि भवति ऐसा पाठ है सो विचारणीय है।

सम्भावना अर्थ होनेपर "यदि" अव्ययका प्रयोग होवे तो लिङ् होता है "जातुयद्यदायदौ लिङ्" २।३।१३८ ऐसा जैनेन्द्र व्याकरण सूत्रके नियमसे।

हैं तथा जीवका मित्र रत्नत्रयधर्म ही है दूसरा कोई नहीं हैं ऐसा निर्णय करता हुवा जब आचरणोंका प्रादुर्भाव (उत्पन्न) करता (कर लेता) है तब वह श्रावक अवश्यमेव अत्यन्त प्रशंसनीय कल्याणोंको उत्पन्न करता (कर लेता) है अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत और सल्लेखना व्रतको आचरण करता है वह अवश्यमेव स्वल्प भवोंमें ही क्षायिक अनन्त सुखोंको भोगता है।

अथवा— उत्तम श्रावक तपस्वी होता हुवा आगम-समय-भेदज्ञानको और उनके उपायोंको बतानेवाले शास्त्रोंको जान लेता है और यह भी निश्चय-निर्णय कर लेता है कि "जीवका शत्रु पाप है—पापाश्रव है और पापोदय ही है तथा जीवका उपकारी सगोत्र भ्राताके समान धर्म ही, है तब ही वह प्रशंसनीय निश्चल स्वरूपका ज्ञाता अवश्य हो जाता है। उत्कृष्ट उद्दिष्ट त्यागी वानप्रस्थ आश्रममें है वह तपस्वी भी है किंतु स्वभावों विभावोंको तथा आत्माको नहीं जानता है तो वह कल्याणोंका ज्ञाता-भोक्ता नहीं होता। अतएव वानप्रस्थोंको कषायादि विभावोंको बतानेवाले गोमट्टसार धवल जयधवल जैसे ग्रन्थोंको तथा स्वभाव पर्यायोंको निर्णय करानेवाले आत्मख्याति समयसार जैसे आगमोंको जीव और आत्माके स्वरूपको बतानेवाले मोक्षशास्त्र सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक श्लोकवार्तिक लघीयस्त्रयी सर्वज्ञसिद्धि जैसे ग्रन्थोंका तथा कषायादि विभावों-

से भिन्न करनेवाले उपायोंको बतानेवाले रत्नकरण्डश्रावकाचार मूलाचार अपराजिता भगवती आराधनासार और इन सबके आदर्श-उदाहरण बतानेवाले महापुराण (आदिपुराण उत्तरपुराण) आदि इन दिगम्बर जैन ऋषिप्रणीत—आर्ष आगमोंका अध्यापन (वाचना) प्रच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय और धर्मोपदेशोंसे कषायोंको घटाकर समाधि राग द्वेषसे शून्य भावोंका साधक बने यही रत्नत्रय धर्म है संसार पर्यायोंसे निकाल कर उत्तम सुखमें धारण करता है और यही बिचार श्रेयो मार्ग है।

यह समस्त ग्यारह प्रकारके अणुव्रतियोंको तथा मुख्यतासे ग्यारहमी प्रतिमावाले वानप्रस्थोंको बताया है।

इदानीं शास्त्रार्थानुष्ठातुः फल दर्शयन्नाह,—

इस शास्त्र में बताये हुवे साधनोंका जो आचरण करता है उसका क्या फल होता है? सो बताते हैं—

येन स्वयं वीतकलङ्कविद्या-
दृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव,
सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु॥ १४९॥

येन भव्येन स्वयम् आत्मा स्वय शब्दोऽत्रात्मवाचकः नीतः

प्रापितः । कमित्याह वीतेत्यादि, विशेष इतो गतो नष्टः कलङ्को दोषो यासां ताश्च ता विद्यादृष्टिक्रियाश्च ज्ञानदर्शनचारित्राणि तासां करण्डभावं तं भव्यम् आयाति आगच्छति । कासौ ? सर्वार्थसिद्धिः धर्मार्थकाममोक्षलक्षणार्थानां सिद्धिर्निष्पत्तिः कर्त्री । कयेवायाति ? पतीच्छयेव स्वयंम्वरविधानेच्छयेव । क्व ? त्रिषु विष्टपेषु त्रिभुवनेषु ॥

अन्वयः--येन श्रावकेन स्वयं वीत[3]कलंकविद्यादृष्टिक्रिया रत्नकरण्डभावं नीतः तम् सर्वार्थसिद्धिः त्रिषु विष्टपेषु पतीच्छया इव आयाति[6] ॥

१-जो स्वयम् दूसरेकी प्रेरणाके विना वर-ग्राहक (इच्छुका) होवे उस विधानको स्वयम्वर विधान कहते हैं। अर्थात् जो भव्य मुक्तिश्रीके साथ अनन्त अविनश्वर परम सुखमय अद्वैत होना चाहते हैं प्रयत्न कर रहे हैं उनको ही सर्वार्थसिद्धि विवाहित हो जाती है। अन्योंके साथ नहीं।

२ -स्वयमिति भिसंज्ञकपदम्-आत्मा।

३ - विशेषेण इतः गत इति वीतः । वि + इण गतौ क्तः । अथवा वीतः क्षिप्तः । अज क्षेपणे च क्तः । वी आदेशश्च ।

४—णिञ् प्रापणे क्तः । "धिगम्यर्थं वह्नीह्रो कृषजिदण्डेः कर्मणि लादिः" २ । ४ । ५६ । अनेन मुख्यकर्मणि क्तः ।

५-पतिं विधातुमिच्छया हेतुना आयाति । अत्र "हेतौ" १।४।३६ अनेन भा विभक्ती । इष इच्छायां धोः "मृगयेच्छाऽट-ट्याः" २।३।१०४ इति शः त्यः । ऐषणम् इच्छा वाञ्छा । पतिं प्राप्तुं वाञ्छया, पतिं समवेतुमुद्देशेन वेत्यर्थः ।

६ आङ् पूर्वक या प्रापणे धोः लट् तिप् । "ह्वादेरुप्" २।१।८२ इति शप उप् । आगच्छतीत्यर्थः ।

निरुक्तिः--विद्या च दृष्टिश्च क्रिया च इति विद्यादृष्टिक्रियाः वीताः कलंकेभ्यः ताः वीतकलंकाः । वीतकलंकाश्च याः विद्यादृष्टिक्रियाः ताः वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रियाः वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रिया एव रत्नानि इति वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रियारत्नानि । तेषाम् करण्डमिव करण्डम् इति वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डम् तस्य भावः तथा तम् वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम् । पत्युः इच्छा पतीच्छा तया पतीच्छया । सर्वे च ते अर्थाः सर्वार्थाः सर्वार्थानाम् सिद्धिरिति सर्वार्थसिद्धिः । मोक्षपुरुषार्थसिद्धिरित्यर्थ ।ः

अर्थ—जिस श्रावकने अपनेको ज्ञान दर्शनचारित्ररूपी रत्नोंका पिटारा बनाया है उसको सर्वार्थसिद्धि सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि तीन लोकमें सर्वत्र पतिके समान इष्ट मानती हुई प्राप्त होती है ॥१४९॥

रत्नकरण्डकं कुर्वतश्च मम यासौ सम्यक्त्वसम्पत्तिर्वृद्धिं गता सा एतदेव कुर्यादित्याह,—

श्रीसमन्तभद्रस्वामी अपनी प्रिय भावना "कि इस रत्नकरण्ड श्रावकाचारको बनाते हुवे सम्यक्त्वरूप सम्पत्ति मेरे बढ़ी है वह इतना काम करे ऐसा" स्वयं दर्शाते हैं ।

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव,
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनाता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥

मां सुखयतु सुखिनं करोतु । कासौ ? दृष्टिलक्ष्मीः सम्यग्दर्शन-सम्पत्तिः । किंविशिष्टेत्याह जिनेत्यादि, जिनानां देशतःकर्मोन्मूलकानां गणधरदेवादीनां पतयस्तीर्थंकरास्तेषां पदानि सुबन्तमिङन्तानि पदा वा तान्येव पद्मानि तानि प्रेक्षते श्रद्धातीत्येवं शीला । अयमर्थः–लक्ष्मीः पद्मावलोकनशीला भवति दृष्टिलक्ष्मीस्तु जिनोक्तपदपदार्थप्रेक्षणशीलेति । कथंभूता सा ? सुखभूमिः । सुखोत्पत्तिस्थानं । कं केव ? कामिनं कामिनीव यथा कामिनी कामभूमिः कामिनं सुखयति तथा मां दृष्टिलक्ष्मीः सुखयतु । तथा सा मां भुनक्तु रक्षतु । केव ? सुतमिव जननी । किंविशिष्टा ? शुद्धशीला जननी हि शुद्धशीला सुतं रक्षति नाशुद्धशीला दुश्चारिणी । दृष्टिलक्ष्मीस्तु गुणव्रतशिक्षाव्रतलक्षणा शुद्धसप्तशीलसमन्विता मां भुनक्तु । तथा सा मां सम्पुनीतात् सकलदोषाकलंकं निराकृत्य पवित्रयतु । किमिव ? कुलमिव गुणभूषा कन्यका । अयमर्थः-कुलं यथा गुणभूषा गुणाऽलंकारोपेता कन्या पवित्रयति श्लाघ्यतां नयति तथा दृष्टिलक्ष्मीरपि गुणभूषा अष्टमूलगुणैरलंकृता मां सम्यक्पुनीतादिति ॥ १५० ॥

येनाज्ञानतमो निरस्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतम्
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः ।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान् प्रभेन्दुर्जिनः ॥१॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामि-
विरचितोपासकाध्ययनटीकायां
सप्तमः परिच्छेदः ।

अन्वयः---दृष्टिलक्ष्मीः माम् सुखयतु । का कमिव ? कामिनी कामिनम् इव । किम्भूता दृष्टिलक्ष्मीः ? किम्भूता च कामिनी ? सुखभूमिः । दृष्टिलक्ष्मीः माम् भुनक्तु । का कमिव ? जननी सुतमिव । कथंभूता जननी वा दृष्टिलक्ष्मीः ? शुद्धशीला । दृष्टिलक्ष्मीः मां संपुनीतात् । का किमिव ? कन्यका कुलमिव । कीदृशी दृष्टिलक्ष्मीः वा कन्यका ? गुणभूषा । पुनः कीदृशी च दृष्टिलक्ष्मीः ? जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी ।

निरुक्तिः–सुखस्य भूमिः सुखभूमिः सुखश्चासौ भूमिः वा । शुद्धं शीलम् यस्यां सा शुद्धशीला । गुणैः भूष्यते या सा गुणभूषा, अथवा गुणा एव भूषा यस्या सा गुणभूषा । जिनानां पतिः जिनपतिः जिनपतेः पदौ चरणौ जिनपतिपदौ, जिनपतिपदौ इव पद्मौ इति

१–सुखं करोतु इति सुखयतु–मृशाद्यर्थे णिज् बहुलम् । २।१।२८ अनेन करोत्यर्थे णिच् ।

२–भुजो रक्षाऽशनयोरिति रुधादे धोः "लोट्" २।३।१५३ अनेन प्रार्थनार्थे लोट् "भुजोऽत्रेः" १।२।७३ अस्मिन् सूत्रे "अत्रे" इति अपालनेऽर्थे एव दः भवति पालने तु मम् भुनक्तु त्रायताम् पालयतु इत्यर्थः ।

३–सम्पूर्वक पुञ् पवने धोः "क्र्यादेः श्ना" २।१।६५ श्ना "इत्यभौरो ४।४।११० ईकारादेशः । पवित्रं कुरुतात् ।

४–पितृपितामहप्रपितामहमातृमहादीनां सन्ततिः कुलम् ।

५–ईक्षे दृशो धोः प्रगेः "शीलेऽजातौ णिन्" २।२।७८ इति णिन् । "द्रुयुगिद्वन्नश्चोः" ३।१।५ इति स्त्रीत्वे ङी । प्रेक्षिणी ।

जिनपतिपदपद्मौ। अथवा जिनपतेः पदानि वाक्यानि जिनपति-पदानि। तानि एव पद्मानि जिनपतिपदपद्मानि। जिनपतेः पदम् जिनपतिपदम्। तदेव पद्ममिति तथा। तौ तानि तदेव प्रेक्षते इत्येवं शीला सा जिनपतिपदपद्मप्रेक्षणी। दृष्टिरेव लक्ष्मीरिति दृष्टिलक्ष्मीः।

अर्थः---सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझको सुखी करे। किसके समान? जैसे युवती स्त्री अपने पतिको सुखी बनाती है। कैसी है वह लक्ष्मी? और कैसी है वह कामिनी? सुखोंका स्थान है। सम्यक्त्वरूपी लक्ष्मी मुझको पोषण करो। किस प्रकार पोषण करे? जैसे माता अपने पुत्रको पोषे है पुष्टि करे है। कैसी है वह लक्ष्मी तथा माता? शुद्ध है स्वभाव जिसका—सम्यक्त्व लक्ष्मी मुझको पवित्र करो। किसके समान? जैसे कन्या अपने कुलको पवित्र करती है। कैसी है लक्ष्मी और वह कन्या? सदाचार है भूषण जिसके उत्तम गुणोंसे शोभित है, कैसी है दृष्टि-लक्ष्मी? जिनेन्द्र भगवानके चरणोंकी श्रद्धान करने वाली और जिनेन्द्र भगवान्के कहे हुये वचनरूपी कमलको श्रद्धान करनेवाली और जिनेन्द्रकी मुद्रारूपी कमलको श्रद्धा करने वाली है अर्थात् जिनेन्द्र सिद्धान्त और यतीश्वरोंकी प्रतीति स्वरूप है ॥१५०॥

इति श्रीसमन्तभद्रस्वामि विरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गौरीलालसिद्धान्तशास्त्रिणा निरुक्तायां पञ्जिकायां हिन्दीभाषायां च सद्वृत्ताधिकारे श्रावकपदवर्णनो नाम सप्तमः परिच्छेदः।

* समाप्तोऽयं ग्रन्थः *

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारकी कारिकाओंका हृदयंगम।

नमस्समन्तभद्राय, वर्धमानजिनेशिने।
श्रीगौतमगणेशाय, श्रुताब्धिभद्रबाहवे ॥१॥

भगवान् समन्तभद्रस्वामीने उपासकाध्ययनांगसे संक्षिप्त बीजभूत अर्थोंको इस रत्नकरण्डश्रावकाचारके संस्कृत (भाषाके) पद्योंमें गूंथा है—रचा है, जो कि समीचीन निर्दोष रत्नाकार रत्नत्रयकी प्रभाओंसे जाज्वल्यमान देदीप्यमान प्रफुल्यमान हो रहा है। इसको जो धारण करते हैं वे रत्नकरण्ड बन कर नित्य निरंजन परमात्मस्वरूप सर्वार्थसिद्धि (समस्त पदार्थोंकी सिद्धि) मोक्षपुरुषार्थकी प्राप्तिके स्वामी होते हैं। ऐसे विशिष्ट साधनोंको बतानेवाली १५० सार्द्धशतक (डेढसौ) कारिकाओंसे (पद्यरूप सूत्रोंसे) श्रावकाचार (गृहस्थ पुरुषोंके करने योग्य चारित्र) प्रकाशित हो रहे हैं ॥

इन कारिकाओंमें उन रत्नत्रयमयी विधेय कृत्योंको ऐसे उत्तम समीचीन संस्कृत पदोंमें स्थापित किया है जिनसे बुद्धिमान् मनस्वी भव्यजन अपनी आत्माको हिंसादि पापोंसे और राग द्वेष मोहनीय आदि विभावोंसे निवृतकर (छुटा कर) शुद्ध स्वभाविक बना चुके हैं बना रहे हैं और बनावेंगे।

अतएव इस रत्नकरण्डश्रावकाचारकी कारिकाओंकी रचना (वाक्यविन्यास) और अर्थसंगति कितनी प्रशंसनीय है, जिस

के प्रत्येक पद प्रयोजनीभूत और अपने अपने कृत्योंके बताने-वाले हैं। यदि एक भी वाक्य या पद निकाल दिया जावे तो अर्थमें व्यर्थता आ जावेगी। क्योंकि ये कारिका सूत्ररूप* हैं।

सूत्रका लक्षण श्रीजयधवलमें इसप्रकार है कि जिसमें अक्षर तो स्वल्प हों और अर्थ गंभीर हो, निस्संन्देह, सार (तत्त्व) को वतानेवाला, गूढ़ अर्थोंका निर्णय जिससे होता हो, अव्याप्ति आदि तथा व्याकरण छन्द और साहित्यके विरुद्ध जो दोष हैं उनसे रहित हो, जितना कथन हो वह हेतुपूर्वक प्रयोजनीभूत हो जिसमें कोई भी बात अहितकारी और झूठी न हो, उन गद्य या पद्य वाक्योंको बुद्धिमान् आचार्य सूत्र कहते हैं।

सो यह लक्ष्य लक्षणभाव इसकी प्रत्येक कारिकाओंमें विद्य-मान है। अतएव समस्त श्रावकाचारोंमें या उनकी टीकाओंमें इसकी कारिकाओंको उद्धृत कर निग्रन्थाचार्योंने साक्षीमें दी है।

उनकी हृदयंगम संगति इसप्रकार है।

प्रथम कारिकामें श्री १००८ वर्धमान तीर्थंकर अर्हन्तदेवको नमस्कार कर श्री समन्तभद्र स्वामीने अपनी कृतज्ञता बताई है। उनके जो विशेषण वताये हैं उनमें उनकी बताई हुई श्रुतविद्या हमारे लिये हितकारी है क्योंकि उसी उपासकाध्ययन विद्यासे यह ग्रंथ रचा है।

---

* अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्गूढनिर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥

ति जयधवल।

२—जितने प्राणी हैं वे सब सुखको निरन्तर चाहते हैं कि हमारा सुख हममें निरन्तर रहे। उसी स्वाभाविक सुखमें जो स्थापित करता है वह धर्म है उसी धर्मका इसमें कथन है।

आगे उस धर्मके स्वरूप सम्यग्दर्शनादिक ही हैं। अन्य मिथ्यादर्शनादिक नहीं हैं ऐसा बताया है अनन्तर सम्यग्-दर्शनका स्वरूप बताकर आप्त सर्वज्ञदेवका विशिष्ट असाधारण लक्षण कहा है।

जिसके क्षुधा पिपासा आदि दोष है (खाने पीनेकी इच्छा है) वही आप्त हो सकता। ऐसे वर्धमान जैसे तीर्थङ्कर सर्वज्ञ ही आप्त हैं। अन्य ब्रह्मा विष्णु महेश और बुद्ध पैगम्बर जैसे नहीं हो सकते। क्योंकि इनके क्षुधा प्यास है।

आठमी कारिकामें आगम (जिनशासनकी उत्पत्ति) का स्वरूप और ९ मी में उस आगमका लक्षण बता कर १० मी में तपस्वी गुरुका स्वरूप कहा है।

अनन्तर सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंका वर्णन आठ कारिकाओं में है। जिनमें प्रथम "इदमेवेदृशंचेव*" इत्यादिमें निश्शंङ्कित अंग-का स्वरूप है।

---

* बहुतसी प्रसिद्ध पुस्तकोंमें "इदमेवेदृशमेव" ऐसा पाठ है वह सदोष है। प्रथम तो छन्दो दोष है। क्योंकि श्लोकका छठा अक्षर गुरू होना चाहिये। दूसरे अर्थदोष है कि, "तत्व यही है इसी प्रकार है।" ऐसा न कह कर ऐसा कहना उत्तम है कि तत्व यही है और ऐसे ही है। इसलिये "च" पद और है। जैसे आगे दूसरे पादमें "तत्वं नान्यन्न चान्यथा" में न (नकार)

आगे निःकांक्षितादिका वर्णन कर १९-२०मी कारिकामें उन लोकप्रसिद्ध पुरुषोंमेंसे एक-एक नाम बताया गया है जिन्हों-ने निश्शङ्कित आदि अंगमें उत्तीर्णता प्राप्त की है। कोई ऐसा न समझे कि एक या दो तीन आदि अंगाके होनेसे भी सम्यग् दर्शन कार्याकारी (सफल) होता होगा ? इस शंकाको दूर करने केलिये २१ मी कारिका बनायी है। "यदि एक भी अंग न्यून होगा तो वह सम्यग्दर्शन सांसारिक दुःखोंका (जन्म मरण आदि वेदनाओंका) घातक नहीं हो सकता" ऐसा वर्णन है। अनन्तर २२मी कारिकासे लेकर तीन कारिकाओंमें तीन मूढत्व भावोंका वर्णन है। अर्थात् देखादेखी जो लौकिक-पाखण्ड और देवताओंकी उपासना करनेसे सम्यग्दर्शनमें सदोषता प्राप्त होती है। इत्यादि कथन कर मूढत्व भावोंसे सम्यग्दर्शनको सुरक्षित रक्खे ऐसा उपदेश है।

आगे मदका लक्षण भेद और इससे क्या २ दोष होते हैं ऐसा बताकर उसके दूर करनेका उपाय बताया है, कि वाह्य कर्म-बन्धजनित संपदा हमारे निरन्तर बनी रहेगी ? या पापास्रवोंके उदय होनेसे ही नष्ट हो जायगी इत्यादि सलाका पुरुषोंके पुराण तथा चरित्रोंको पढ़ कर सुन कर मननकर सधर्माओंको तिरस्कार करनेके लिये कदाचित् भी अपना महत्व न दिखावे, किन्तु ऐसा विचारे, जो कि २८वीं कारिकामें बताया है कि सम्यग्दर्शन जीव

के आगे "च" अव्ययपद और है। जिससे अर्थमें गम्भीरता-सुन्दरता—पूर्णता आ जाती है। "इदमेवेदृशंचैव" ऐसा पाठ शुद्ध है इससे ऐसा ही पढ़ना चाहिये।

का स्वाभाविक गुण है। वह पापकर्मके फलको भोगनेवाले नारक शरीर तथा पशुपक्षियोंके शरीरोंमें उत्पन्न हुवे प्राणियोंके समान पापप्रकृतियोंके उदयजनित असंस्कृत अथवा कुसंस्कृत पतित जातियोंमें उत्पन्न हुवे मनुष्योंके भी करणलब्धिके निमित्तसे दर्शनमोहनीयका उपशम क्षयोपशम (कर) होता है परञ्च वे हीन-ज्ञाती शरीरधारी होनेसे ऐसे हैं जैसे राखमें दबा हुआ (पड़ा हुआ) अंगारा-देदीप्यमान नहीं है तो भी पर्याय बदलनेपर उत्तम शरीरको पाकर देदीप्यमान अवश्य होता है, इसलिये भाविनो-आगम द्रव्यनिक्षेप कर वह आत्मा पूज्य है, स्वल्प कालमें ही मुक्तात्मा होगा "अवश्य होगा ही" इससे वह जीव प्रशंसनीय है, किन्तु उस नीच शरीराश्रित होनेसे तो वर्त्तमानमें नीच ही है।

कोई प्राणी पुण्योदयसे उत्तम जातिमें उत्तम लोकपूज्य गोत्रमें उत्पन्न हुवे शरीरमें स्थित होने पर भी मिथ्यात्व मोह-नीयके उदयजनित पारणामोंके होनेसे यह जीवात्मा पूज्य समीचीन—प्रशंसनीय नहीं है जैसे उत्तम पात्रमें रक्खा हुवा विषमिश्रित दुग्ध। अतएव सम्यग्दृष्टि जीव उत्तम जात्यादिकों-को पाकर उन सधर्मी पुरुषोंका अपमान नहीं करता। वह विचारता है सम्यग्दृष्टि भी नारक शरीर धारण करते हैं और मिथ्यादृष्टि भी देवता बनते हैं। तथा भील चांडालोंके रज वीर्यसे बने हुवे शरीरके धारण करनेवाले जीव सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थङ्कर होते हैं इसप्रकार नेमिनाथपुराण हरिवंशपुराण आदिमें बताये हुए श्रीनेमिनाथ स्वामीकी पूर्व भवावलि आदिको विचार कर जात्यादिकोंका मद नहीं करता।

किन्तु इतना अवश्य जानता और मानता है कि पतित-हीन जातिवाला महाव्रतोंको तथा उत्तम अणुव्रतोंको भी नहीं धारण कर सकता।

वर्त्तमान अवस्थाको ही मत देखो भविष्य भी देखो कि समीचीन धर्मके निमित्तसे श्वान भी नीच पर्यायको (शरीरको) छोड़ कर देवपर्यायको पाता है और अधर्मके (मिथ्यात्वके) निमित्तसे देव भी श्वान जैसी नीच शरीरको पाता हैं।

इससे यह निर्णय होता है कि जिसप्रकार केवल पात्र की (आधारकी) नीचता उच्चता (सुन्दरता या भद्दापन) होनेसे औषधिका परिपाक (मूल्य) नहीं है किन्तु उसके उपादान-की मुख्यतासे ही मूल्य होता है। इसीप्रकार आत्माकी पूज्यता अपूज्यता केवल शरीरादि आधारोंकी अपेक्षासे नहीं है किंतु सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी मुख्यतासे है। किंतु गौणता-से द्रव्य क्षेत्र काल और भाव भी साधक हैं। मनुष्य पर्याय ही-शरीर ही मोक्षमार्ग (मोक्षसाधक) है अन्य नहीं। उसमें भी उत्तमों जाति कुलमें उत्पन्न हुवा मनुष्यशरीर ही मोक्षका साधक है अन्य पतित जातिसंकर नहीं।

उसीप्रकार भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुवे ही शरीर मोक्षसाधक हैं अन्य क्षेत्रों में उत्पन्न हुवे नहीं हैं। दुषमासुषमा* काल ही यहां मोक्ष साधक है अन्य नहीं। रत्न-त्रय भाव ही मोक्ष साधक है अन्य विभाव भाव नहीं।

* हुण्डावसर्पिणी कालके निमित्त कर भी कालमें विशेषता है जैसे श्रीऋषभदेव भगवान सुषमादुषमा कालके जब तीन

इसप्रकार मूढ़ता और मदोंसे रहित पूर्णाङ्ग सम्यग्दर्शन–को प्राप्त कर उसमें म्लानता (शुष्कता) नहीं आवे इसलिये कुदेवों (बौद्ध आदि पैगंबरों) को तथा इनके उपदेशे हुवे गीता रामायण कुरान पुराण बाइबिल आदि शास्त्रोंको तथा उनके बताये हुवे व्रत तप (रोजा रखना) अनुष्ठानोंको करनेवाले जातिसंकरताको बढ़ानेवाले, गर्भाधान आदि संस्कारोंको तोड़नेवाले अथवा कुत्सित (हिंसामयी) मंत्रोंसे करानेवाले उपदेश देनेवाले कुगुरुओंको स्नेहसे (हमारे सहपाठी है-लोडर हैं) आशासे (इनके मंत्र तंत्र यंत्रके मिलनेसे धन संपदा संतति मिलेगी) भयसे ये शाप दे देवेंगे, राज्य दण्ड तथा चोरी आदि कराय देवेंगे, नौकरी छुड़वाय देंगे, इत्यादि अनेक प्रकारके निमित्तसे भी प्रणाम और भक्ति भावों (भोजन देना, चंदा देना

वर्ष साढे आठ महिना शेष रहे थे तबका समय भी उनके मोक्षसाधक हुआ था अन्य अवसर्पिणी काल नहीं होता।

जिसप्रकार श्रीवर्धमान स्वामी कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको अन्तिम घटिकामें मुक्त हुए हैं तथापि सामान्यतासे लोक अमावश्याको निर्वाण तिथि कहते हैं-मानते हैं उसीप्रकार तृतीय कालके ३ वर्ष ८॥ मास (८१ पक्षमात्र) शेष था (जो कि कोटाकोटी सागरकी अपेक्षा बिन्दुमात्र भी नहीं कहा जा सकता) तथापि स्वल्प होनेकी अपेक्षासे चतुर्थ कालमें ही गिना जाता है। वास्तवमें तो श्रीवर्धमानमोक्षप्राप्ति काल कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी ही है उसी प्रकार श्रीऋषभदेव भगवानका निर्वाण काल तृतीय काल (सुषमादुषमा) ही है।

मंदिर देना, उनको बनाई पुस्तक बांटना आदिकों) को न करे ऐसा करनेसे सम्यग्दर्शनमें मलीनता आ जावेगी। ऐसा उपदेश है।

जब दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों ही अवयव एकसे हैं तो दर्शनको प्रथमता (मुख्यता) क्यों है ? इसका समाधान करनेके लिये चार कारिकायें बनाई हैं।

१ जैसे रत्नद्वीपमें जानेवाला यात्री जहाजमें बैठकर पहुंचेगा उसमें जहाज इंजन और नाखुदा (जो दिशा विदिशाओंका ज्ञाता वाका टेढा तिर्यक भागोंमें ले जानेके लिये मोडता है चालमें न्यूनाधिकता करता है सो कर्णधार है) ये तीन साधन हैं उनमें नाखुदा (कर्णधार) प्रधान है। २ ज्ञान चारित्र की उत्पत्तिके लिये सम्यग्दर्शन बीजके समान है। ३ सम्यग्दृष्टि ग्रहस्थ उस चारित्रवान् साधुसे श्रेष्ठ है जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है। ४ सम्यग्दर्शन तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ था और है तथा रहेगा। इसका विरोधी मिथ्यात्व (दर्शन मोहनीय विभाव) लोकत्रयमें जीवोंको दुःखदायक था और है तथा रहेगा। इन चारों हेतुओंसे सम्यग्दर्शनको प्रथम (मुख्य) माना है।

तथा इसको मुख्यताके अन्य भी कारण हैं।

१ सम्यग्दृष्टि कुगतिमें नहीं जन्मेगा ।

२-३ मनुष्य भी होगा तो उत्तम सज्जातीय कुलोंमें ही जन्मेगा और वह ओजस्वी आदि गुणोंसे विशिष्ट होगा। धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थोंका भोक्ता सद्ग्रहस्थ और लोकपूज्य (मानव तिलक परिव्राजक) होगा ।

४ तथा सम्यग्दृष्टि ही देव पर्यायमें वैमानिक महर्धिक देव होता है।

५ तथा चक्रवर्ती निधीश्वर सम्राट्शलाका पुरुष होता है।

६ और त्रिलोकपूज्य पंचकल्याणोंका भोक्ता तीर्थङ्कर अर्हन्त-पदको पावे है।

७ तथा नित्य शुद्ध सुखमय ज्ञानस्वरूप शिवपद पावे है।

इनसप्त परमस्थानोंमें आदिके सज्जाति १ सद्गृहस्थ २ और परिव्राजक ३ इन तीनों को तो मिथ्याती भी प्राप्त कर लेता है किन्तु अन्त्यके सुरेन्द्रत्व १ चक्रवर्ती २ तीर्थङ्कर ३ और निर्वाण ४ इन चार परमस्थानोंको सम्यग्दृष्टि ही पाता है। ऐसा बताया गया है।

इसप्रकार इस प्रथम परिच्छेदमें ४१ इकतालीस कारिकाओं-को संगति श्रृंखलाबद्ध है। इसमें कारिका तो दूर रहो एक भी वाक्य या पद ऐसा नहीं है जो व्यर्थ हो-जिसके बिना अर्थसंगति श्रृंखलाबद्ध बना रहे; यहांतक च वा एव अपि आदि अव्यय पद हैं वे भी अर्थविशेषोंके द्योतक हैं। जिसप्रकार तत्वार्थ सूत्रोंके समस्त पद अमोघ हैं उसीप्रकार इसके भी समस्त पद अमोघ हैं। जिसप्रकार सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक श्लोक-वार्तिक आदि टीकाओंमें प्रत्येक सूत्रोंके पदकृत्य श्रीपूज्य-पाद अकलंक विद्यानन्दी आदिने विशद बता दिये हैं उसी तरह इस रत्नकरण्ड श्रावकाचारको प्रत्येक कारिकाओंके पदकृत्य बतानेवाली वृहत् टीका (महावृत्ति) प्राचीन होनी चाहिये तलाश कर रहे हैं। आशा है कि हमें शीघ्र सफलता प्राप्त होगी।

अब सम्यग्ज्ञान परिच्छेद सम्बन्धी कारिकाओंकी संगति बताते हैं।

सम्यग्दर्शनके अनन्तर सम्यग्ज्ञान वर्णनीय है इससे प्रथम उसका स्वरूप लक्षण बताया है, सम्यग्ज्ञान का वाच्य भाव श्रुतज्ञान (उपयुक्त श्रुतज्ञान) है जिसे आगम आम्नाय वे सूक्त श्रुत आदि नामों से बोलते हैं।

जिसके भेद ४ चार हैं। उनका स्वरूप-विषय-आख्यान वाच्य और नाम एक एक कारिकामें बता कर इस द्वितीय परिच्छेदको पूर्ण किया है।

आगे सम्यक्चारित्रका वर्णन है जो कि तीसरा रत्न है। इसमें ४७ सैंतालीसमी कारिकामें इनका समाधान बताया है कि उस चारित्रका अधिकारी (पात्र) कैसे पुरुष होते हैं? और वे किसलिये उसे धारण करते हैं? तथा वह धारण करने वाला क्या कहलाता है?

४८ मी कारिकासे ज्ञात होता है कि जब राग द्वेषको हटाता है तब हिंसादि पाप स्वतः छूट जाते ही हैं। जब अर्थी पुरुषार्थी को नहीं चाहता है तब कोई राजा महाराजाकी सेवा करता है? नहीं करता, जैसे बाहुबली राजा इन्द्र वानरध्वज, राजा बालि आदिकोंने जब मोक्ष पुरुषार्थका उद्देश (इरादा) कर लीना तब चक्रवर्ती सम्राट् भरतेश्वर रावण आदिका क्या सेवा की? नहीं की। किन्तु महाव्रती ध्यानी हुये और ये ही उन्होंने पूजे।

४९ वीं में सम्यग्चारित्रका लक्षण और उसके स्वामी बताया है अर्थात् जो हिंसादि पापोंका परित्याग-वैराग्यके तथा राग और द्वेषके दूर करनेके लिये है वही सम्यकचारित्र है। जो इन्द्रियोंके विषय भोगोपभोगोंको बढ़ानेकेलिये है वह समीचीन चारित्र कदापि नहीं होता ऐसा बताया है।

५० वह चारित्र दो प्रकारका है। पहला उन्हींके होगा जिन्होंने ग्रहिणी आदि ग्रहोंका त्याग किया है। दूसरा ग्रहस्थोंको भी होता है। यह ग्रन्थ उपासक श्रावक–ग्रहस्थोंका है इससे सकल चारित्र (महाव्रतों) को विशेष न कहकर श्रावकाचारका ही वर्णन ५१ वीं आदि कारिकाओंमें कहा है।

५२ ग्रहस्थोंके चारित्र तीन हैं। उन से प्रथम अणुव्रतको बता कर अहिंसादि अणुव्रतका लक्षण और उनके अतिचार दश कारिकाओं में कह कर ६३ वी कारिकामें इनका फल बताया है। ६४ मी में परीक्षित अणुव्रतियोंमेंसे एक एक नाम बताया है।

यद्यपि जयकुमारके पांचों ही अणुव्रत थे परंच स्वामीने परमितपरिग्रह अणुव्रत में " जयकुमारका उदाहरण कहा है इससे यह ज्ञान होता है कि * पत्नी ग्रहणी भी परिग्रह है। जाति स्मरण होनेपर जयकुमारने अहिंसा अणुव्रतादि समस्त ही विकलचारित्रों का धारण कर लिया था किन्तु इनका इच्छापरिमाण नामक पंचम अणुव्रत बहुत ही प्रशंसनीय प्रसिद्ध था।

६७ विकल चारित्र का दूसरा भेद जो गुणव्रत हैं उसकी निरुक्ति और भेद बताये हैं।

६८ दिग्व्रतका लक्षण और फल बताया है आगे उसकी सीमा कह कर फल बताते हुये वह महाव्रती सदृश हो जाता है किन्तु

---

* सो ही श्रीप्रभाचन्द्राचार्यने इसी टीका में बताया है कि "धनधान्यादिग्रन्थम्" इसमें जो आदिपद है उससे दासी दास भार्या गृह क्षेत्र द्रव्य सुवर्ण रूप्य आभरण वस्त्र इत्यादिका भी प्रमाण होता है।

महाव्रती नहीं होता इसको पुष्टिके लिये ७१ मी कारिका * है।

७२ वह गुणव्रती वर्धमान चारित्रवाला होता हुआ भी महाव्रती नहीं है क्योंकि महाव्रती तो इसप्रकारके ही होते हैं ऐसा इस कारिका में बताया है। आगे इनके अतीचार कहे हैं।

७४ दिग्व्रती होने पर अनर्थदण्ड व्रत होता है जिसके भेद पांच हैं उनका स्वरूप बता कर अतीचार कहे हैं।

आगे ८२ मी कारिकामें भोगोपभोगपरिमाणका स्वरूप और प्रयोजन बता कर भोगका तथा उपभोगका लक्षण कहा है।

जो चीजें किसी भी प्रकार योग्य (खाने योग्य) नहीं हैं उनका परित्याग बताया है। यदि नहीं त्यागोगे तो अणुव्रत भी नष्ट हो जायेंगे। तथा अभक्ष्य अनिष्ट और अनुपसेव्योंका भी परित्याग करो।

८७ उस भोगोपभोग परिमाणकी रीति दो हैं नियम और यम ऐसा बताकर दो कारिकाओंमें नियमित कालके लिये १२ वस्तुओं का नियम करते रहो ऐसा उपदेश है पुनः ६० मी में अतीचार कह कर इस परिच्छेद को पूर्ण किया है। शिक्षाव्रताधिकार-

उस विकल चारित्रका तीसरा भेद जो शिक्षाव्रत है उसके भेद और नाम ६१ मी कारिका में बता कर देशावकाशिक शिक्षाव्रतका लक्षण और उसके स्वामी को बताया है आगे इसकी द्रव्यावधि और योजनावधि कह कर कालावधि

---

* जिसका अर्थ शब्दशास्त्रका कारण शास्त्रके न जानने से यथार्थ नहीं जाना जाता इसमें शब्दशास्त्र (व्याकरण सम्बन्धी कारकोंकी विशेषता है गंभीरता है।

बतायी है। पुनः अवधिके बाहर उसके अणुव्रतोंको महाव्रत कीसी अवस्था बता कर अतीचार बताये हैं।

अनन्तर ९७ मी कारिकासे ८ कारिकाओंमें सामायिक शिक्षाव्रत विधि विधान है।

सामायिकका लक्षण और उसके समयका स्वरूप अर्थात् सामायिकके करनेका अवसर जघन्य काल बताकर उसकी वृद्धि के साधन बताये हैं कि कहां पर सामायिक बढ़ता है और वह ऐसे स्थानों में भी एक भुक्ति अथवा उपवासोंके होनेपर शरीर के हस्त पाद पलक आदिसे हलन चलन और जिह्वादिसे भाषण बोलना चिल्लाना संकेत आदिकी तथा चित्तको व्यग्रताको दूर कर सामायिक को करै।

तथा प्रति दिन भी करै क्योंकि यह महाव्रतोंकी पूर्णताका साधक है। क्योंकि सामायिक करते समय परिग्रहोंमें भी ममता नहीं है और कृषिवाणिज्य आदिक का आरंभ समारंभ भी नहीं है। वह श्रावक तो उस समय ऐसा बन जाता है कि मानो वह मुनिराज ही है कि जिनको उपसर्ग हो रहा है अर्थात् किसीने रागादि कषायवश उस दिगंबर साधु पर कपड़ोंको पहना कर उपसर्ग कर रक्खा है।

वह शीतादि परिषहों को भी सहता है और देव मनुष्य पशु पक्षी तथा अचेतनकृत उपसर्गोंसे भी नहीं चलित होता किन्तु अशरण आदि भावनाओंसे अपनेको भावित करता है इत्यादि विधि बताकर उसके अतीचार बताये हैं। आगे १०६ मी कारिकासे ११० तक प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका वर्णन है।

प्रथम लक्षण–और तिथि काल बताया। उस उपवासके दिन पाप क्रियाओंको न करै। किन्तु धर्म चर्चा स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर रहै। निद्रा तन्द्रा आदि आलस्योंको भी न करे। आगे उपवास प्रोषध और प्रोषधोपवास का लक्षण कहकर अतीचार बताये हैं।

आगे १२१ मी कारिकातक वैयावृत्य शिक्षाव्रतका वर्णन है। तपस्वी महाव्रतियोंको भोजन पान प्रदान करना और उनको किसी प्रकारकी भी व्याधि न होवे, यदि हो गई हो तो उसका प्रतीकार करै उनके भक्तिपूर्वक हाथ पैर दाबै। उनके संयम–की वृद्धिके साधनोंको मिलाना तथा रत्नत्रयके विघातकोंका हटाना सो सब वैयावृत्य है। तथा नवधा भक्ति पूर्वक जो उद्दिष्ट त्यागियों का गौरव करना है सो दान है यह दान ग्रहारंभी ग्रहस्थोंके पापोंको नष्ट कर देता है। तथा उनको प्रणाम (नमोस्तु) आदिके करनेसे सज्जाति आदि पुण्यकी प्राप्ति होती है। उचित समय पर स्वल्प भी अन्नादिकों का दान मनुष्य को मनोवांछित भोगोपभोगोंको प्राप्त कराता है। यही चार दान होते हैं। आहार १ औषध २ उपकरण ३ और वस-तिका ४ के प्रदान कर भी क्षुधादि रोगोंकी व्यावृत्ति होती है। इससे ये वैयावृत्य हैं इनके करणेसे असंख्याते भव्योंने इष्ट सिद्धि की है उनमेंसे श्रीषेण आदि चार महापुरुषोंके उदाहरण क्रमसे बताये हैं।

तथा अर्हन्त भगवानके चरणोंकी भक्तिपूर्वक पूजा करे। उस पूजाके निमित्त कर स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति होती है जैसे श्री

वर्धमान स्वामीकी पुष्पमात्रसे पूजाके उद्देशसे जाते हुवे मेंडक ने स्वर्ग प्राप्त किया था।

अर्थात् इस चतुर्थ शिक्षाव्रतमें जिनमन्दिर जिनप्रतिमा-स्थापन नित्य नैमित्तक अष्टप्रकारी पूजन जीर्णोद्धार आदिका भी ग्रहण है क्योंकि इनके करनेसे अपने और जनता के पापाश्रयों की व्यावृत्ति (नाश) होती है इत्यादिक कह कर अतीचार बताये हैं।

अनन्तर १२२ मी कारिकासे आठ कारिकाओंमें सल्लेखना व्रतका कथन है। यह व्रत भी निरन्तर धारण करना चाहिये न जाने कब मरण हो जावे प्रत्येक दिन रात घड़ी पल विपल इनमेंसे कोई भी ऐसा नहीं जब भूकंप अग्निदाह जलमग्न वज्रपात सर्प सिंह व्याल पशु पक्षी मनुष्यादिकृत उपसर्ग न होते हों, न जाने कब आयुका अपवर्तन (क्षय) हो जावे। इसलिये धर्मको न छोड़ कर शरीरका त्यागना ही समाधिमरण है, इसीको संलेखना तथा सन्यास भी कहते हैं। इसका होना ही तपोंका फल है इसलिये हमको प्रति समय सल्लेखनाके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

वह यत्न इस प्रकारका है ऐसा बता कर अतीचारोंको कह कर इसका फल ५ कारिकाओं में बताया है, जो कि अनन्त काल तक रहता है अनन्तर १३५ मी कारिकामें उस रत्नत्रय धर्मका फल बताया है।

आगे १३६ मी कारिकामें उन श्रावकोंके चारित्रोंकी (पदव्यवस्थाओंकी) प्रतिमा (गुणस्थानइनकी) संख्या कहकर उन प्रत्येकके व्रत चारित्र ११ कारिकाओंमें बताये हैं।

अनन्तर यह बताया है कि प्रशंसनीय ज्ञाता वही है जो मिथ्या-त्वादि (विभावों) को कुचारित्रादिको तो शत्रु और उपयुक्त सम्यग्दर्शनादिकों को बन्धु (हितकारी) मानता है वही अपना कल्याण करता है।

आगे श्रीसमन्तभद्र स्वामी बताते हैं कि इस ग्रन्थका नाम रत्नकरण्ड है इसमें निर्दोष समोचीन रत्नत्रय है इनके करण्ड पिटारे-पात्र-आधार जो बनते हैं उनको समस्त अर्थोंकी प्राप्ति सर्वत्र होती है।

श्री समन्तभद्रस्वामीकी भावना है कि इस रत्नकरण्ड को रचते हुये जो मुझे सम्यग् रत्नत्रयकी वृद्धि हुयी है वह हमको सुखी बनावे पालन करे और पवित्र करे।

इस प्रकार इन सूक्त कारिकाओंके अनुवाद कर्त्ताकी भावना है कि मैं भी श्रावकाचार-रत्नकरण्ड बनूं और वैदेही देह धारण कर शुक्ल ध्यानी क्षपक होऊं।

श्रीसमन्तभद्ररत्न करण्डाभिलाषीः--गौरीलाल

उपोद्घात

वर्त्तमानमें जितने श्रावकाचार (उपासकाध्ययन) प्रसिद्ध हैं उन सर्वोमें पूज्य प्राचीन माननीय और सूत्ररूप तथा विशद स्वरूप यही रत्नकरण्डश्रावकाचार है ।

इसके निर्मापक--रचयिता श्रीसमन्तभद्रस्वामी हैं जिन्होंने सर्वज्ञ अर्हन्त देवकी स्तुति वन्दना पाठोंमें तर्कवाद द्वारा स्याद्वाद तत्वका स्वरूप सधर्माओं को तथा विधर्माओं को वहुत अच्छीतरह विशद बताया है, जिससे सर्वज्ञसिद्धि सृष्टिकर्तृ-वादनिषेध, इहलोक परलोककी प्रसिद्धि, अनेकान्तात्मक ही वस्तु स्वरूप है, समस्त ज्ञेय नय और प्रमाणके गोचर है, क्षायिकज्ञान ही प्रमाण है, व्युपरतक्रियानिवृत्तिनामक परम शुक्लध्यान साक्षात् शुद्ध मुक्त सिद्ध पदका कारण (असाधारण—अमात्र कारण) है, द्रव्य छह ही है न्यूनाधिक नहीं इत्यादि वस्तुस्वरूपका बताने-वाले तथा व्याकरण गणित लोकविभाग ज्यातिष्ककृत काल-विभाग, नित्य कालविभाग ऐतिहासिक अनेक कथानक चरित्र पुराण (जो कि करणानुयोग चरणानुयोग द्रव्यानुयोग सम्बन्धी उदाहरणरूप हैं) संहिताशास्त्र (जो कि भोगभूमिज सदृश मनुष्योंके स्थानमें कर्मभूमिज मनुष्योंके संहित में सन्धिमें प्रधान पुरुषोंके रचे हुवे हैं,) स्मृति शास्त्र (जो प्रतिश्रुत आदि चतुर्दश कुलकरोंने अपने पूर्व भवकी स्मृतिद्वारा विदेहोंके समान जातिव्यवस्था कुलव्यवस्था और उनके संस्कारपद्धति-को बतानेवाले) कल्प शास्त्र (जिनमें परमेष्ठिपूजन, मंत्र तंत्र

चिकित्सा विधान आदि बतानेवाले) इत्यादि अनेक प्रकारके शास्त्रोंके ज्ञाता शास्ता उपदिष्टा व्याख्याता स्वामी थे आपकी समस्त क्रियायें ध्यान चिन्तन विचार चर्या आदि अनुकरणीय थी, आपके भाव निरन्तर धर्मभावनाओंसे पुष्ट और सब प्रकारको नय नीतिसे भद्र थे हितकारी थे इसीसे समस्त व्रती महाव्रती गण मुनिराज साधु परमेष्ठि लोक इनको "समन्तभद्र" इस सार्थक पदसे आह्वान करते थे।

इनके गुणोंकी प्रशंसा श्रीधवल जयधवलादि टीकाकारों ने की है; और उनके वचनोंके सूत्रोंकी कारिकाओंकी काव्यों को दर्शनकी और चारित्रकी प्रशंसा करनेमें भी अपनेको असमर्थ (अशक्त) बताया है।

उन समन्तभद्र स्वामीका रचा हुवा यह रत्नकरण्डश्रावकाचार कितना महत्त्वपूर्ण है इसमें बताये हुवे विधि विधान कितने सातिशय पुण्यस्वरूप हैं।

इसके वचनोंकी सुसङ्गति और रत्नत्रयकी उत्पत्ति वृद्धि पुष्टि और फलप्राप्ति किस प्रकार की जाय इत्यादि क्रम-अनुक्रम अत्यन्त सुगम रीतिसे बताया गया है।

इसके अनुकूल क्रिया करनेसे चारित्रके धारण पालन साधन और निर्वाहन करनेसे मनुष्य स्वयं रत्नकरण्ड बन जाता है।

इस रत्नकरण्डश्रावकाचारकी वाक्यरचना अर्थ समग्रता और उनका वाच्य वाचकविधान इतना उत्तम प्रशंसनीय और मुमुक्षुओंके लिये हितकारी है जितना वृषभसेन आदि पूज्य गणधरोंके वचन।

अतएव जो ऐहलौकिक पारलौकिक और अध्यात्म धर्म को वर्धमान करना चाहते हैं वे इस ग्रन्थको पढ़ें मनन करें और इसमें बताये हुवे रत्नत्रयमयी चारित्रोंको पालन करें ।

—निवेदक

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारका प्रकाशन ।

यह ग्रन्थ उतना ही मान्य पूज्य आदरणीय और सदागम माना जाता है जितना तत्त्वार्थसूत्र मोक्षशास्त्र । इसकी प्रमाणता बड़े २ विद्वान् तपस्वी निर्ग्रन्थ जैनाचार्योंने अपने रचे हुए ग्रन्थोंमें टोकाओंमें भाष्योंमें तथा धवल जयधवल जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें मानी है ।

इसकी मूल कारिका १५० हैं इनमें इतना गंभीर प्रयोजनी-भूत अर्थ (तत्त्व) भरा हुआ है जितना देवागमस्तोत्रकी ११४ कारिकाओंमें, जीवट्ठाणाके मूल सूत्रों में, पेज्जदोस कसाय-पाहुडके गाथा सूत्रोंमें ।

परंच इनमेंसे अर्थ निकालनेवाला ऐसा होना चाहिये जैसे अष्टशती आप्तमीमांसाके कर्त्ता श्रीअकलंक देव, अष्टसह-स्रीके रचियता विद्यानन्द स्वामी, तथा धवल और जयधवल सिद्धान्तके टीकाकार वीरसेन और भगवज्जिनसेन स्वामी।

इसमें जैसे पद पदार्थ शुद्ध निर्दोष हैं तैसे ही वे भव्या-त्माओंको शुद्ध निर्दोषात्मक बनाते हैं ।

इसकी यह संस्कृत टीका उन श्रीप्रभाचन्द्राचार्यकी रची हुई है जिन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड रचा है, जो कि तार्किक माननीय दृढ़प्रतिज्ञ प्रतिवादिभयंकर आचारवान् आचार्य थे ।

इस टीकासे पद और पदार्थोंकी जानकारी होने से चारित्र सम्बन्धी उदासी दूर होकर भव्य श्रावक उद्यमशील चारित्रवान बनते रहें इससे इसको मूलकारिकाओंके आगे प्रकाशित किया है।

तथा जो पद शब्द ऐसे हैं कि जिनका अर्थ– अन्यथा प्रसिद्ध है उनको निरुक्ति द्वारा जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रानुसार धातु प्रकृति प्रत्यय समास विग्रह आदि बता कर किया गया है तथा बहुतसे वाक्योंका अर्थ कारकके न जाननेसे नियमविरुद्ध हो रहा था उसको जैनेन्द्रव्याकरणके सूत्र बताकर कारक विभक्ति और उपपद विभक्ति ज्ञात करायी गई हैं। कहीं पर यतिदोष (विश्रामदोष) मात्रादोष छन्दोदोष युक्त पढ़ने पढ़ाने लग गये उनको छन्द शास्त्रीय नियम टिप्पणोमें बताये गये हैं।

कई एक सज्जन उपमान उपमेय आदि साहित्यसम्बन्धी अलंकार-लक्षणादिककी यथार्थतासे विरुद्धताकी तरफ झुकते थे उनको भी यथार्थ भाव समझाया गया है।

बहुतसी बातें धूडक सोधुमार्गी तारणपन्थी आदिकोंके सहवाससे अर्थोंमें अन्यथात्व आता था वह भी भावार्थोंमें जतलाया गया है। कुछ लोग इनमेंसे कई एक श्लोकोंको क्षेपक समझते और समझाते थे उनकेलिये हृदयंगम (शृङ्खलाबद्ध संगत) लगाया है जिससे प्रत्येक कारिकाकी अर्थसंगति ज्ञात होती रहैगी।

इसप्रकार यह रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ भव्य विद्यार्थी तथा चारित्रार्थी श्राद्धोंमें रत्नत्रयी धर्मको निरन्तर वर्धमान करै ऐसी हमारी प्रिय भावना है। श्रीसमन्तभद्रभक्तः—

गौरीलालः श्रावकाचाररत्नकरण्डः

पुस्तक मंगानेके पतेः—

१—पं० गौरीलालजी सिद्धान्तशास्त्री
वर्धमान प्रेस, नई सड़क, देहली।

२—सेठ चैनसुखजी गंभीरमलजी पाण्ड्या
मु० पो० कुचामन (मारवाड़)

३—सेठ चैनसुखजी गंभीरमलजी पाण्ड्या
नं० १३ नूरमल लोहिया लेन, कलकत्ता।

४—अधिष्ठाता श्रीऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम
चौरासी, मथुरा।